

विदेशी पैसों के सवाल पर बहस

संयोजन – विजय प्रताप

डी.ए./१ए. डी.डी.ए. फ्लैट्स, मुनीरका, नई दिल्ली 110067

विषय-सूची

1. स्वयंसेवी संस्थाएं
अजय मेहता
2. गैर सरकारी संगठनों के राजनीतिक पहलू
अनिल चौधरी
3. एन.जी.ओ. : मुद्दा एक सवाल अनेक
अरुण पाण्डेय
4. संस्थाओं में पारदर्शिता हो
अरुणा राय
5. एन.जी.ओ. को जनता के प्रति जवाबदेह बनाया जाना चाहिए
अतुल कुमार अंजान
6. सरकार अपनी जिम्मेवारी निभाए तो स्वयंसेवी संस्थाओं की जरूरत ही नहीं
डी. राजा
7. स्वयंसेवी संस्थाएं एवं फंड जुटाने का मुद्दा
देवेन्द्र शर्मा
8. राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ
देवेन्द्र स्वरूप
9. स्वयंसेवी संगठन एवं विदेशी फंडिंग
दीपंकर भट्टाचार्य
हर्षमंदर

10. राष्ट्रिय स्वयंसेवक संघ एवं स्वयंसेवी कार्य
महेश शर्मा
11. जन संसाधनों का काम विदेशी पैसे से नहीं हो सकता
मेधा पाटकर
12. स्वयंसेवी संस्थाएं
प्यारे मोहन त्रिपाठी
13. भारत के सामाजिक विकास में स्वयंसेवी संस्थाओं का योगदान
राजेश टंडन
14. स्वयंसेवी संस्थान एवं मनुवादी व्यवस्था
रामराज
15. किस उद्देश्य से लिया गया विदेशी पैसा, यही महत्वपूर्ण
शंभूशरण श्रीवास्तव
16. देशज ज्ञान परंपराएं
सुधीरेन्द्र शर्मा
17. स्वयंसेवी संस्थाएं एवं विज्ञान और तकनीक
सुमन सहाय
18. भ्रष्टाचार और लोकतंत्र
विश्व बंधु गुप्ता

स्वयंसेवी संस्थाएं

अजय मेहता

आजकल गैर-सरकारी संस्थाओं के लिए 'नागरिक समाज' या 'नागरिक संगठन' शब्द का इस्तेमाल किया जा रहा है। वैचारिक दृष्टि से इस बात को ध्यान में रखकर नागरिक संगठनों का निर्माण हो रहा है कि विकास में इनकी सार्थक भूमिका हो। यह अच्छी बात है। वस्तुतः आजादी मिलने के बाद इस बात की आवश्यकता महसूस की गयी थी कि विकास के काम में सरकार की भूमिका बढ़-चढ़ कर होनी चाहिए। सरकार ने इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए काफी संसाधन और सत्ता अपने हाथों में केंद्रित कर ली। उस समय इसकी आवश्यकता भी थी लेकिन इसके परिणाम संतोषजनक नहीं आये। यह पाया गया कि सरकार ने विकास के काम का जो जिम्मा लिया वह ठीक से नहीं हो पाया। इन कटु अनुभवों से यह विचार उभरा कि हम दुबारा समाज में जाएं और लोगों की बिखरी ताकत को किसी प्रकार जोड़ें। इस तरह नागरिक संगठनों या गैर सरकारी संस्थाओं के निर्माण की प्रक्रिया तेज हुई। वैचारिक दृष्टि से यह अच्छा विचार है लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से इसके परिणाम भी उतने अच्छे नहीं हैं। इसकी अनेक वजहें हैं। जब हम गैर सरकारी संस्थाओं की ओर देखते हैं तो कई प्रकार की संस्थाएं नजर आती हैं। कुछ छोटी हैं, कुछ कमजोर हैं, कुछ भ्रष्ट हैं और कुछेक ऐसी हैं जिनका अच्छा काम करने का इरादा ही नहीं है। इन कमजोरियों के बावजूद सुखद पहलू यह है कि नागरिक संगठनों की इन स्वाभाविक कमजोरियों को सुधारना संभव है। इसके लिए साधन और सही नीति की आवश्यकता है। उचित और सशक्त नेतृत्व की जरूरत है। गैर सरकारी संस्थाओं में ऐसे लोगों के आने की जरूरत है जो गंभीरता से विकास के काम को हाथ में ले।

पिछले दो दशक में सरकार की नीतियों में भी काफी बदलाव आये हैं। इसके चलते इस क्षेत्र में ज्यादा लोग उन्मुख हुए हैं। नीतियों के अध्ययन से लगता है कि सरकार स्वयं भी इस बात

को स्वीकार कर रही है कि जनशक्ति को उभारना होगा। जनभागीदारी को आधार बना कर विकास का काम करना होगा। पर सच्चाई यह है कि नीतियों में तो ये चीजें स्पष्ट हो गयी हैं लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से अभी भी अड़चने हैं। सरकार जितना कहती है उतना करती नहीं। सत्ता के शीर्ष पर बैठे लोग अपने अधिकार दूसरों के साथ बांटते नहीं। एक ओर तो यह दुविधा है। दूसरी ओर गैर सरकारी संस्थाओं ने जो जगह बनायी है उसका पूरा फायदा नहीं उठाया है। वे इस मानसिकता के साथ चल रही हैं कि हमें स्वयं किसी समस्या का हल नहीं करना है। हम एक दबाव समूह की भूमिका में रहकर सरकार को जवाबदेह बनाने का प्रयास करेंगे। हम यह बताएंगे कि सरकार का काम ठीक नहीं है और सरकार अपने काम में सुधार लाये। लेकिन सरकार अपना काम कैसे ठीक करे इस बात की जिम्मेदारी उठाने के लिए गैर सरकारी संस्थाएं तैयार नहीं हैं। अक्सर परिस्थितियां प्रतिकूल होने के चलते ये जिम्मेदारी नहीं लेते, लेकिन जब परिस्थितियां अनुकूल होती हैं तब भी ये जिम्मेदारी नहीं लेते। गैर सरकारी संस्थाएं अपनी कमजोरियों को भी सामने नहीं लाते। वस्तुतः सिद्धांत रूप में यह माना जाता है कि जनभागीदारी बढ़ेगी तो विकास का काम आसानी से होगा। गरीब तबका एकजुट होकर अपने हाथ में विकास का काम लेगा। पर हकीकत और व्यवहार में ऐसा नहीं है। इसकी एक वजह यह है कि वैचारिक दृष्टि से गैर सरकारी संस्थाओं में जो परिवर्तन होना चाहिए वे परिवर्तन पूर्ण रूप से नहीं हुए। दरअसल, नीतियों में तो बदलाव जरूर आया पर व्यवस्था जस की तस रही। इस वजह से गैर सरकारी संगठनों को भी अच्छा काम करने का अवसर नहीं मिला। इसी के साथ यह भी कहना उचित होगा कि जहां काम करने का अवसर मिला वहां गैर सरकारी संस्थाओं ने आसान रास्ता अख्तियार किया कि हम दूसरों को बताएंगे कि उनका काम क्या है। गैर सरकारी संस्थाओं की यह बहुत बड़ी कमी है।

गैर सरकारी संस्थाओं को समाज में न्याय और समानता स्थापित करने के लिए आगे बढ़कर जिम्मेदारी लेनी पड़ेगी। जब हम जिम्मेदारी लेते हैं तब पता चलता है कि विकास का काम कितना मुश्किल है। आज समाज में बिखराव आ गया है। गरीब और आदिवासी तबकों के बीच जाने पर पता चलता है कि वहां भी संगठन और सामूहिकता की भावना क्षरण की ओर

तेजी से अग्रसर है। इस समाज में सामूहिकता की भावना को दुबारा कायम करने की आवश्यकता है। यह काफी मेहनत का काम है। गैर सरकारी संस्थाओं के सामने यह बड़ी चुनौती है कि वे सरकार और समाज को जवाबदेह बनाये। गैर सरकारी संस्थाओं को यह चुनौती स्वीकार करनी चाहिए। शायद गांधी जी इस बात को अच्छी तरह जानते थे। उनका रचनात्मक काम में शुरू से जोर था। उन्होंने शुरू से ही कहा था कि हम सरकार के भरोसे नहीं रहें। समुदाय आत्म निर्भरता की ओर बढ़े। उन्होंने यह भी कहा था कि हमलोगों को विकास की जिम्मेदारी स्वयं संभालनी चाहिए। आज के संदर्भ में आत्म निर्भरता की कई परिभाषाएं हो सकती हैं क्योंकि मुझे नहीं लगता कि छोटा सा गरीब समुदाय खुद साधन विकसित कर सकता है। उन्हें बाहरी संसाधन और तकनीक की जरूरत है। शायद गांधी जी ने बाहरी मदद की मनाही नहीं की है। कुछ लोग उनकी बात की संकीर्ण व्याख्या करते हैं। मुझे लगता है कि इस वक्त समाज की बहुत सी चीजों को पुनर्परिभाषित (रीडिफाइन) करना होगा। मसलन, सरकार और समाज की भूमिका, सत्ता की भूमिका, प्रजातांत्रिक व्यवस्था को हम क्या मानते हैं वगैरह—वगैरह। इन सब बातों पर हमें और गहराई से सोचना होगा।

यह कहा जा सकता है कि गैर सरकारी संस्थाओं ने अब तक टुकड़ों में किया है। कुछ काम अच्छे भी हुए हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य, पर्यावरण आदि क्षेत्रों में अच्छा काम हुआ है, पर इसका व्यापीकरण करने में गैर सरकारी संस्थाएं असफल रही हैं। कहने का अर्थ यह है कि गैर सरकारी संस्थाओं ने यदि एक जगह अच्छा काम किया तो उस काम के मोटे-मोटे सिद्धांत का निचोड़ निकाल कर उसे सौ-सौ जगहों में फैलाने में सुस्ती दिखायी। इसकी वजह यह है कि हम अभी तक गहराई में जा नहीं पाये हैं। एक गांव या पांच गांव में अच्छा काम करना उतना मुश्किल नहीं है जितना कि उसे पूरे समाज में फैलाना। वस्तुतः हुआ यह है कि गैर सरकारी संस्थाओं को कुर्सी पर बैठा दिया गया। यह भी कह सकते हैं कि टोपी पहना दी गयी कि सरकार खराब है और आप अच्छे हैं। देश के विकास का इंफ्रास्ट्रक्चर तैयार करने वाले या अंतर्राष्ट्रीय ऋणदाता एजेंसियों ने देखा कि जब हम काम अच्छी तरह से नहीं कर पा रहे हैं तब उन्होंने इस काम के लिए गैर सरकारी संस्थाओं की सेवाएं लेनी शुरू की। गैर

सरकारी संस्थाओं ने कहीं पर छोटा-मोटा कोई अच्छा काम किया तो उसी को आधार बना लिया कि यह काम सभी जगह किया जा सकता है। गैर सरकारी संस्थाओं ने ईमानदारी से यह नहीं बताया कि हमारा काम तो केवल पांच गांवों तक सीमित था, दस या बीस गांव में हम काम नहीं कर पाएंगे। सच तो यह है कि यह संवाद अब तक ठीक से नहीं हो पाया है। सरकार गैर सरकारी संस्थाओं को बढ़ा-चढ़ा कर बता रही है और ये संस्थाएं भी अपने को बढ़ा-चढ़ा कर बता रही हैं। सरकार और गैर सरकारी संस्थाएं दोनों असली समस्या बता नहीं रहे हैं। इसके चलते समस्या की असली जड़ तक हम पहुंच नहीं पा रहे हैं।

मैं एक उदाहरण देना चाहूंगा। उदयपुर में एक गैर सरकारी संस्था है 'सेवा मंदिर'। मैं इस संस्था से जुड़ा रहा हूँ। इस संस्था का तकरीबन 500 गांवों में काम है। संस्था ने 50 गांवों में तो अच्छा काम किया है लेकिन शेष 450 गांवों में बहुत ज्यादा कुछ कर नहीं पाये हैं। सरकारी अधिकारी या ऋणदाता एजेंसियों से केवल उन 50 गांवों की चर्चा की जाती है जहां अच्छा काम हुआ है। शेष 450 गांवों में किसी की रुचि नहीं जहां हम ठीक काम नहीं कर पाये हैं। सच पूछिये तो इन 450 गांवों पर चर्चा होनी चाहिए। चर्चा इसलिए कोई नहीं करता कि इससे संस्था की, नागरिकों की, सरकार की और ऋणदाता एजेंसियों की कमजोरियां उभर कर सामने आयेंगी। अब यदि इन कमजोरियों पर चर्चा होगी और जो बातें सामने आएंगी वे किसी के लिए सुविधाजनक नहीं होगी। कहने का अर्थ यह है कि चर्चा में यह बात उभर कर सामने आएंगी कि सरकार का वन विभाग ठीक तरह से काम नहीं कर रहा है और आदिवासियों को वन के संरक्षण का काम सौंप दिया जाय। सभी इससे खुश हो जाएंगे कि नीतियों में बदलाव हो गया और अब इसके अच्छे परिणाम आएंगे। पर जब गांव की ओर मुड़कर देखेंगे तो पता चलेगा कि गांव वाले भी पेड़ काटना पसंद करते हैं। गांव वाले भी अवैध कब्जा करते हैं। ऐसी स्थिति में गैर सरकारी संस्थाएं भी असफल होंगी क्योंकि सामाजिक परिस्थितियां ठीक नहीं हैं और इसे ठीक करने के लिए बहुत मेहनत करनी पड़ेगी। हमें यह बताना होगा कि जो सामाजिक परिस्थितियां पैदा हुई हैं उसके दुष्परिणाम क्या हैं।

सरकारी जमीन पर कब्जा करने से आखिर किसका हक मरता है। वस्तुतः इस संवाद का अभाव है। इसलिए इसमें से कोई आसान गली नहीं निकलती।

इस तरह असली संवाद नहीं हो रहा है। एक संवाद तो ठीक हो गया कि सरकार खुद मान रही है कि उसमें अनेक कमियां हैं लेकिन दूसरा संवाद नहीं हो रहा है कि सरकार की कमियों का मतलब यह नहीं है कि गैर सरकारी संस्थाएं अच्छी हैं। सरकार, गैर सरकारी संस्थाएं, नागरिक सबको मिलकर यह निष्कर्ष निकालने की जरूरत है आखिर हमें करना क्या है? यह संवाद ईमानदारी से नहीं हो रहा है। इसकी वजह यह है कि सभी के अपने-अपने निहित स्वार्थ हैं। इसके बावजूद अच्छी बात यह है कि हमारे समाज में खुलापन है। यहां लोकतंत्र है। गैर सरकारी संस्थाएं, सरकार, पंचायतें, विदेशी एजेंसियां भी रचनात्मक कार्य कर सकती हैं। अनुभव की दृष्टि से भी हमारा समाज बहुत समृद्ध है। गांधीवादी, वामपंथी आदि कई धाराएं यहां मौजूद हैं। इसलिए पुनर्विचार की बहुत गुंजाइश है। हम एक दूसरे के साथ मिलकर अपने अनुभवों को बांट सकते हैं। इससे शायद कोई दिशा निकल सकती है।

अक्सर यह कहा जाता है कि सरकार के अधिकारी और कर्मचारी दोनों अच्छे नहीं हैं। उनमें काम करने की संस्कृति नहीं है। ऐसा भी नहीं है कि गैर सरकारी संस्थाओं में जो काम करने आते हैं उनमें काम के प्रति गहरा लगाव होता है। ये भी साधारण लोग होते हैं और नौकरी के लिए आते हैं। महत्वपूर्ण सवाल यह है कि उनको काम करने के लिए प्रभावित कैसे करेंगे? गैर सरकारी संस्थाओं में इस बात को लेकर भी बहस है कि यहां पेशेवर लोगों को आना चाहिए। अंग्रेजी बोलने वाले पढ़े लिखे लोग बहुत समझदार होते हैं, अच्छा काम करते हैं। उनको गैर सरकारी संस्थाओं से जोड़ना चाहिए। हमारा अनुभव है कि ऐसे लोग आदर्शवादी कारणों से इस क्षेत्र में आ तो जाते हैं पर ज्यादा दिन टिक नहीं पाते। अंग्रेजी पढ़े-लिखे मध्यवर्गीय लोग विकास जैसे मेहनत के काम में ज्यादा दिन ठहर नहीं सकते। दूसरी ओर छोटे शहर का छोटा आदमी बीस-पच्चीस साल तक इस काम से जुड़ा रहता है।

आजकल यह बहस भी तेज हुई है कि विदेशी ऋणदाता एजेंसियां हमारे देश में अपना एजेंडा थोप रही हैं। यह मुद्दा प्रासंगिक है कि विदेशी पैसों के कारण अपने देश के बुनियादी मसलों पर काम नहीं हो रहा है। विदेशी ऋणदाता एजेंसियां जिस मुद्दे को चाहती हैं उन्हीं पर फंड देती हैं और गैर सरकारी संस्थाएं काम करती हैं। यह बात कुछ हद तक सही जरूर होगी पर इसमें हमारी भी कुछ कमजोरियां हैं। यदि हम विदेशी ऋणदाताओं को सही मुद्दा बताएंगे तो वे उनका भी समर्थन करेंगे। हजारों विदेशी ऋणदाता एजेंसियां हैं। इनमें बहुत ऐसी हैं जो काफी संवेदनशील हैं, स्वच्छ हैं और उनकी नीयत साफ—सुथरी है। वे चाहती हैं कि गरीबी दूर हो। मगर हम उनको गरीबी के मुद्दे से जुड़ी जटिलताएं बताते नहीं। अपनी डींग हांक देते हैं। साफ—साफ और ईमानदारी से उनके साथ संवाद नहीं करते। कहने का अर्थ यह है कि ऐसी अनेक विदेशी संस्थाएं हैं जो अच्छा सहयोगी बनकर काम कर सकती हैं बशर्ते हम उन्हें सही मुद्दा बताएं। इसलिए यह डर अनावश्यक है कि वे अपना एजेंडा थोपती हैं। फिर हमारे पास विकल्प भी नहीं है। सरकार आर्थिक अनुदान देने में महीनों लगाती है। यह भी भरोसा नहीं कि पास किये गये कार्यक्रमों को आगे चलायेगी भी या नहीं। सरकार के साथ मिलकर काम करना बहुत मुश्किल है। वस्तुतः देखा यह जाना चाहिए कि विदेशी पैसों के कारण काम खराब हो रहा है या हमारे में ही कोई कमी है। विदेशों से फंड लेकर काम करने वाली गैर सरकारी संस्थाएं यदि अच्छा काम कर रही हैं तो उनकी प्रशंसा की जानी चाहिए। विदेशी मदद का सवाल गौण है। महत्वपूर्ण सवाल यह है कि काम कैसा हो रहा है। यदि विदेशी मदद से बेहतर काम हो रहा है इसमें बुराई क्या है?

‘सेवा मंदिर’ के ज्यादातर प्रकल्प विदेशी मदद से चल रहे हैं। मदद करने वाले लोग डच हैं। पिछले पंद्रह साल से ये लोग सेवा मंदिर के साथ मिलकर काम कर रहे हैं। इन लोगों से मदद पाने के लिए सेवा मंदिर को पैसा खिलाना नहीं पड़ता। वे अपना एजेंडा लेकर भी नहीं आते। हम यह भी स्वीकार करने से पीछे हटते नहीं कि पिछले 20 वर्षों में सेवा मंदिर ने कोई बड़ी सफलता अर्जित नहीं की है। मेरे विचार में आर्थिक और वैचारिक दोनों दृष्टि से काफी

संस्थाएं ईमानदार हैं मगर यहां के बुद्धिजीवी कार्य स्थल पर गये बिना ही यह फतवा जारी कर देते हैं कि विदेशों से आर्थिक मदद प्राप्त करने वाली संस्थाएं भ्रष्ट हैं।

गैर सरकारी संस्थाओं पर भ्रष्टाचार के बड़े-बड़े आरोप लगाये जा रहे हैं। अगर यह सच है तो इसके लिए सरकारी नीतियां और सरकारी तंत्र ही ज्यादा जिम्मेदार हैं। सरकार के अनेक बड़े-बड़े अधिकारी ऐसे हैं जिनकी पत्नियां, बहुएं और बेटियां गैर सरकारी संस्थाएं चलाने के नाम पर भ्रष्टाचार कर रही हैं। उनकी सामाजिक-राजनीतिक स्थिति इतनी मजबूत है कि विकास के नाम पर उन्हें आसानी से फंड मिल जाता है। अब ऐसी स्थिति में गैर सरकारी संस्थाएं भ्रष्टाचार से अलग कैसे हो सकती हैं? फिर अनेक सरकारी एजेंसियां ऐसी हैं जिनके अधिकारी कमीशन लेकर प्रोजेक्ट पास करते हैं। 'कपार्ट' के बारे में अक्सर यह सुना जाता है कि वहां बहुत भ्रष्टाचार है। मैं इस बात से सहमत नहीं हो सकता कि देश-समाज का पूरा मानस ही मूल रूप से भ्रष्ट है। सच तो यह है कि सरकारी नियम-कानून ही भ्रष्टाचार के स्रोत हैं। सरकारी नीतियां बनाने वाले लोग भ्रष्ट हैं जो एक गांव की सफलता को आधार बनाकर राष्ट्र नीति बना देते हैं।

लोकतांत्रिक व्यवस्था में रचनात्मक कार्य के लिए जो स्थान सुरक्षित रहता है उसका इस्तेमाल नहीं हो रहा है। विकास और राजनीति के बीच होने वाला संवाद बहुत संकीर्ण है। राजनीतिक कार्यकर्ता विदेशी मदद लेने वाली गैर सरकारी संस्थाओं से विवाद करना पसंद नहीं करते। मेरे विचार में गैर सरकारी संस्थाएं अपने बूते पर बहुत बड़ी ताकत खड़ी नहीं कर सकती। सरकार, नागरिक, राजनेता, गैर सरकारी संस्थाएं आदि के बीच कोई सार्थक संवाद हो तो विकल्प उभर सकता है। विकास के एजेंडा में राजनीतिक दल, सरकार, विदेशी ऋण, गैर सरकारी संस्थाएं, नागरिक आदि की भूमिका हो, फिर एक इलाके को लेकर संवाद हो कि वहां असली मुद्दा क्या है? अगर आम सहमति बने तो सभी मिलकर काम करे। इस तरह असहमति की रेखा भी मिट जाएगी।

गैर सरकारी संगठनों के राजनीतिक पहलू

अनिल चौधरी

गैर सरकारी संगठनों की फंडिंग और उन्हें मिलने वाले देशी-विदेशी अनुदानों से जुड़े सवालों को समझने से पहले जरूरी है कि इस क्षेत्र की परिभाषा समझी जाय। आखिर एन.जी.ओ. नाम के तंत्र की वास्तविक परिभाषा क्या है? गैर सरकारी क्षेत्र के उद्भव और विकास का केंद्रीय तत्व क्या है? मुझे यह कहने में थोड़ी भी हिचक नहीं है कि कानूनी उपबंधों और मोटी-मोटी किताबों में इस क्षेत्र की जो परिभाषाएं लिखी गयी हैं वह सही नहीं हैं। वास्तविकता यह है कि समाज के अंदर व्यवस्थित, स्पष्टतः व्याख्यायित जितने संवैधानिक ढांचे मौजूद हैं उनसे जो जगह बच जाती है या वे ढांचे जिस जगह को नहीं भर पाते उन्हीं खाली जगहों को भरने का काम गैरसरकारी या स्वयंसेवा क्षेत्र करता है। हर दौर में संवैधानिक और अधिकारिक तंत्र ऐसी कोई न कोई स्पेस अवश्य छोड़ देते हैं जिन्हें भरकर गैर सरकारी क्षेत्र विकसित होता है और अपना विस्तार करता है। अंग्रेजी में इसे 'लेफ्ट ओवर स्पेस' कहा जा सकता है। संसदीय लोकतंत्र में सरकार, पार्टियां, संसद-विधानसभाएं, न्यायपालिका, कार्यपालिका आदि नाना प्रकार के निकाय और संस्थाएं अस्तित्व में आयीं। इनमें से सबकी भूमिका निर्धारित थी। एक निश्चित समयावधि में जो काम ये नहीं कर सकते थे उन्हें गैर सरकारी क्षेत्र करने लगा। मसलन, आजादी के ठीक बाद सरकार के पास विकास कार्यों के लिए एक सुव्यवस्थित ढांचा नहीं था लेकिन राष्ट्रनिर्माण का एजेंडा आगे बढ़ाया जाना था लिहाजा 1950 से 1960 के बीच यह काम गांव के लोगों और गांधीवादी स्वयंसेवी संगठनों ने पूरा कर खाली जगह को भरने का काम किया। किसी ने कुआं खोदा तो किसी ने पुराने कुओं और तालाबों की सफाई की। किसी ने स्कूल खोला और चलाया तो किसी ने श्रमदान के जरिये सिंचाई का तंत्र विकसित किया। साठ का दशक आते-आते जब ये सारे काम सरकारी एजेंसियां करने लगीं और धीरे-धीरे दिल्ली से लेकर गांवों तक 'विकास की नौकरशाही' बन गयी तो एन.जी.ओ. क्षेत्र की पुरानी भूमिका समाप्त हो गयी। 70 आते-आते विकास की खामियों और भ्रष्टाचार के मामले आने लगे और शैक्षणिक संस्थानों के जरिये आलोचना के स्वर उभरने लगे। इन आलोचनाओं

को जनता तक पहुंचाने का काम सरकारें और विभिन्न संवैधानिक ढांचे नहीं कर सकते लिहाजा इसके चलते जो जगह खाली हुई उसे फिर गैर सरकारी क्षेत्र ने भरा। आलोचनाओं को जनता तक पहुंचाने और विकास के वास्तविक मॉडल पर बहस शुरू हुई।

1977 के बाद कुछ बड़े परिवर्तन हुए। देश की राजनीति में एक बिल्कुल भिन्न किस्म की प्रवृत्ति दिखायी दी। इसके पहले तक यह स्थापित था कि सत्ता में रहने का काम कांग्रेस का है और उसके विरुद्ध लगातार आवाज उठाने का काम समाजवादियों का है। 77 ने इसे बदल दिया। सभी राजनीतिक दल सत्ता में पहुंचने लगे नतीजतन संसदीय लोकतंत्र में विरोध का स्वर धीमा पड़ने लगा। इसी दौरान दलीय संरचना में भी भारी परिवर्तन हुआ। पार्टियां तो सिकुड़ती-सिकुड़ती गिरोह में बदल गयीं। एक व्यक्ति को केंद्र में रखकर राजनीति होने लगी। पार्टियां प्राइवेट लिमिटेड कंपनी जैसी हो गयीं। सत्ता और विपक्ष के बीच की विभाजन रेखा धुंधली होती गयी लिहाजा जनाक्रोश और जनआकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करते हुए सरकार और जनता के बीच एक सेतु बनाने वाली धारा लुप्त होती गयी। जनता पार्टी के प्रयोग की असफलता से राजनीति से जुड़े ढेरों क्षमतावान लोगों का मोहभंग हुआ और धीरे-धीरे ये लोग गैर सरकारी संगठनों की ओर आकर्षित हुए। चूंकि जनांदोलन वाली जगह भी राजनीतिक दलों ने खाली कर दी इसलिए गैर सरकारी क्षेत्र इस जगह को भरने लगा। अधिकांश गैर सरकारी संगठनों ने जनता की आवाज को सरकार तक पहुंचाने का काम शुरू कर दिया। गैर सरकारी क्षेत्र में बहस चल पड़ी कि लोगों को घर बैठकर अनुदान देने की बजाय उन्हें इतना सचेत बनाया जाना चाहिए ताकि वे सरकार से लड़कर अपने हितों की पूर्ति कर सकें। यह सिलसिला 1990-91 तक चला।

नब्बे के बाद एक भयानक परिवर्तन हुआ। अब सरकार ने ही अपने आपको सारी जिम्मेदारियों से मुक्त करना शुरू कर दिया। कहा जाने लगा है कि अब चीजें सरकार द्वारा नहीं बाजार द्वारा तय होंगी। पिछले दस वर्षों में भूमंडलीकरण और बाजार अर्थव्यवस्था की हवा इतनी

तेजी से बही है कि समूचा गैर सरकारी क्षेत्र जबर्दस्त उहापोह के दौर से गुजर रहा है। जैसा कि मैंने पहले कहा है कि यह क्षेत्र खाली जगह को भरने का काम करता है लिहाजा अब अगर सरकार शिक्षा, स्वास्थ्य और अन्य जन सुविधाओं से कन्नी काटने लगेगी तो मुमकिन है कि गैर सरकारी क्षेत्र अस्पताल—स्कूल चलाने लगे। जिस तरह विश्व बैंक, संयुक्त राष्ट्र संघ और अन्य अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएं सरकारों की भूमिका कम कर निजीकरण की तरफ बढ़ने का मुहिम चला रही हैं उसमें गैर सरकारी क्षेत्र के लिए असीम संभावनाएं खुल गयी हैं। मैं यह नहीं कहता कि अस्सी के दशक वाली प्रवृत्ति एकदम खत्म हो गयी है जो खुलेआम कहते हैं कि 'पैसा दो और उनसे जो चाहों सो करवा लो' यानी एन.जी.ओ. क्षेत्र भी अब बाजार में हस्तक्षेप करने का एक जरिया बनता जा रहा है।

इस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखते हुए ही गैर सरकारी क्षेत्र की देशी—विदेशी फंडिंग पर बात होनी चाहिए। इस फंडिंग के अन्य पहलुओं पर चर्चा करने से पहले यह जानना जरूरी है कि आखिर अंग्रेज और पश्चिम के देशों से हमारे देश में पैसा क्यों आता है? यह पैसा कौन लोग देते हैं? उनकी असली मंशा क्या है? इस संदर्भ में मोटे तौर पर तीन—चार बातें कही जा सकती हैं। यूरोपीय देशों की अनुदान देने वाली संस्थाओं और वहां के कई लोगों से बातचीत करने के बाद मुझे दो बातें समझ में आयी। पहली तो यह कि यूरोप की वह पीढ़ी जो साठ या सत्तर के दशक में वहां के विश्वविद्यालयों में पढ़ रही थी उस पर उस दौर के छात्र आंदोलनों का गहरा असर था। अब उसे रोजगार मिला और उसके पास पैसा आया तो उसने गरीब मुल्कों को अनुदान देने के लिए चंदा जुटाना शुरू किया। इस पीढ़ी के लोगों के अंदर एक खास तरह की चुभन थी। उसे लगता था कि उसके पूर्वजों ने भारत जैसे मुल्कों को अपना उपनिवेश बनाकर गलत किया। औपनिवेशिक दासता के कारण ही ये मुल्क अपना विकास नहीं कर पाये। इस कलंक को अपने माथे से हटाने के लिए यह पीढ़ी अनुदान के रास्ते पर बढ़ी। इसे लोकप्रिय भाषा में 'हवाटरमैन बर्डन' यानी 'अंग्रेज के माथे का बोझ' कहा जा सकता है। दूसरी बात जो खासतौर पर जर्मनी पर लागू होती है कि वहां के लोग गरीब मुल्कों को बतौर अनुदान कुछ करोड़ रुपये देना अपनी साख बनाने के लिए एक निवेश

(गुडविल इन्वेस्टमेंट) मानते हैं। शीतयुद्ध के जमाने में जब सोवियत संघ के प्रति आकर्षण बढ़ रहा था तो यह दिखाने के लिए कि यूरोप में केवल पूंजी कमाने की होड़ ही नहीं है बल्कि दुनिया के गरीब देशों के प्रति उसका अपना एक 'सोशल कंसर्न' भी है। यह अवधारणा जर्मनी में बहुत गहराई तक विद्यमान थी। तीसरा कारण अंतर्राष्ट्रीय अनुबंध हैं। विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की सोच चाहे जो हो लेकिन तमाम बहस-मुबाहिसे के बाद उसके अमीर सदस्य देशों के बीच सहमति बनी कि देश की आय का एक निश्चित प्रतिशत गरीब मुल्कों के विकास के लिए बतौर अनुदान दिया जाना चाहिए। यूरोप ही नहीं अमेरिका और कनाडा आदि की सरकारें भी इस अनुबंध से बंधी हैं। इसके अलावा चौथी वजह शाश्वत है जिसे हम 'चैरिटी' के नाम से जानते हैं। पश्चिम के अमीरों में परमार्थ के लिए दान देने की पुरानी परंपरा रही है शायद इस उम्मीद से कि उनका पुनर्जन्म हो और उस जन्म में उन्हें अपार सुख-शांति प्राप्त हो।

अंतर्राष्ट्रीय अनुबंधों वाला अनुदान सीधे तौर पर स्कूल-कॉलेज-अस्पताल बनवाने या वाटरशेड प्रबंधन जैसे उन क्षेत्रों में जाता है जिनका भौतिक अस्तित्व साफ दिखाई दे ताकि उन कार्यों की अच्छी फोटोग्राफी हो सके। अपने पूर्वजों का पाप धोने यानी हवाईटमैन बर्डन वाला अनुदान उन संस्थाओं की ओर जाता है जो संस्थाएं लोगों को अपना हक मांगने के लिए सचेत करने के काम में लगी हैं। 'हवाईटमैन बर्डन' वाली यह धारा मानती है कि करोड़ों-करोड़ आबादी को बिठाकर नहीं खिलाया जा सकता। इस धारा की दृष्टि यह है कि किसी को भरपेट मछली खिलाने से बेहतर है उसे मछली मारने की कला सीखा दी जाय। 'चैरिटी' वाला अनुदान अधिकांशतः धार्मिक संस्थाओं को जाता है अस्पताल और अनाथालय खोलने जैसे कामों के लिए भी इसका एक बड़ा हिस्सा इस्तेमाल किया जाता है।

जिस प्रकार 90 के बाद हमारे देश में गैर सरकारी क्षेत्र की भूमिका बदल गयी और एन.जी.ओ. वैसे सभी कार्य करने लगे जिसके लिए पैसा मिल जाय उसी प्रकार फंडिंग एजेंसियों के चरित्र

में भी बदलाव आया। उदारीकरण और भूमंडलीकरण के इस दौर में 'सोशल कंसर्न' वाली बात गौण हो गयी और अनुदान के बजाय पूंजी निवेश पर जोर दिया जाने लगा। अब पश्चिम की सरकारों के लिए 'गुडविल इन्वेस्टमेंट' की अवधारणा अप्रासांगिक हो गयी क्योंकि बड़े-बड़े अर्थशास्त्रियों ने इसे बाजार के विरुद्ध माना और कहा कि उस सरकार की साख सर्वाधिक मानी जाएगी जो सबसे ज्यादा पूंजी निवेश करेगी। यानी 'सोशल कंसर्न' और सामाजिक अनुदान को बाजार अर्थव्यवस्था ने 'पूंजी निवेश' में तब्दील कर दिया। इसका असर यह हुआ कि अब अनुदान देने वाली विदेशी संस्थाएं सरकारों के जरिये धनराशि देने के बजाय सीधे एन.जी.ओ. विशेष से संपर्क साधती हैं। डी.एफ.आई.डी., सीडा और यू.एस.-एड जैसी संस्थाओं के मुखिया भी अब वह नहीं रहे जो आंदोलन से पैदा हुए थे। वहां ऐसे नौकरशाहों का प्रभुत्व स्थापित हो गया है जो अनुदान में अपने द्वारा दी गयी राशि का कुछ न कुछ रिटर्न भी चाहने लगे हैं। ताल-तिकड़म कर वे ऐसे कार्यक्रम तैयार कराते हैं जिनमें 60 प्रतिशत से ज्यादा अनुदान राशि उनके ही देश में वापस लौट आती है। मसलन अपने देश के विशेषज्ञों से वे सारे कार्यक्रम का शोध पत्र तैयार करा लेते हैं और इस काम के लिए फीस के बतौर निर्धारित राशि का उन्हें भुगतान कर देते हैं। क्रियान्वयन के लिए वे ऐसी व्यवस्था करते हैं जिसमें उनके देश के लोग भारत आते हैं भारत के एन.जी.ओ. विशेष के कार्यकर्ता उनके देश जाते हैं। यह आने-जाने का सिलसिला अनुदान देने वाले देश की एयरलाइंस से ही होता है लिहाजा पैसा वापस उन्हीं के देश में रह जाता है। गंगा सफाई का अभियान हालैंड की मदद से हुआ। चूंकि हालैंड के पास पहले से इसकी विकसित तकनीक थी और लोग भी थे। लंबे समय से ये लोग बेकार थे और तकनीक धरी पड़ी थी। गंगा सफाई अभियान में हालैंड ने अपनी दोनों बेकार पड़ी चीजों को खपा दिया और जो राशि खर्च हुई उसे अंतर्राष्ट्रीय अनुबंधों द्वारा निर्धारित अनुदान की श्रेणी में डाल दिया। इसे एकाउंटिंग का खेल भी कहा जा सकता है।

इस समूची प्रक्रिया में हमारे देश के गैर सरकारी संगठनों की भूमिका अब महज ठेकेदार की होती जा रही है। विदेशी अनुदान एजेंसियों द्वारा निर्धारित कार्यक्रमों को एक निश्चित खांचे में

फिट कर देना ही अधिकांश गैर सरकारी संगठनों का काम हो गया है। चूंकि अब विदेशी फंडिंग एजेंसियां सरकारों के बजाय सीधे एन.जी.ओ. से संपर्क स्थापित कर रही हैं लिहाजा इस ठेकेदारी प्रथा में बेतहाशा वृद्धि हुई है। सामाजिक प्रतिबद्धता और सोशल कंसर्न की अवधारणा लगभग समाप्त होती जा रही है। न सिर्फ विभिन्न देशों की फंडिंग एजेंसियां बल्कि विश्व बैंक भी सरकारों को दरकिनार कर सीधे गैर सरकारी संगठनों को कार्यक्रम और पैसा देने लगे हैं। एन.जी.ओ. और फंडिंग एजेंसी के बीच विशुद्ध रूप से 'बाईलेटरल' रिश्ता कायम हो चुका है। यह समूचे गैर सरकारी क्षेत्र के लिए एक घातक स्थिति है। स्वयंसेवा की जगह ठेकेदारी प्रथा ने ले ली है और 'सोशल कंसर्न' की अवधारणा बाजारवाद में तब्दील हो गयी है। एन.जी.ओ. क्षेत्र भी इस बाजारवाद का वाहक हो चुका है और वित्तीय पूंजी का पिछलगू बनता जा रहा है।

इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है स्वयं सहायता समूहों की भरमार और 'माइक्रो क्रेडिट' की समूची व्यवस्था में एन.जी.ओ. का घुसते जाना। बाजार अर्थव्यवस्था की बुनियादी शर्त है कि लोग 'बेतहाशा खर्च' भी करें और इतना 'बचत' भी करें जिनको इकट्ठा वित्तीय पूंजीवाद अपने निवेश की प्रक्रिया को जारी रख सके। अगर जनता 'खर्च' नहीं करेगी तो बाजार नहीं चलेगा और 'बचत' नहीं करेगी तो निवेश रूक जाएगा। निवेश और बिक्री दोनों ही बाजार के लिए जरूरी है। विश्व पूंजीवाद ने अपने सिकुड़ते बाजार को बढ़ाने के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य और जन सुविधाओं पर ध्यान लगाया है इसमें भी एक जगह जाकर मामला ठहराएगा और सीमा बंध जाएगी। बाजार की ताकतों की दुविधा यह है कि यदि भारत का मध्य वर्ग बचत पर जोर देगा तो खरीदेगा कौन? (भारत की पुरानी अर्थव्यवस्था में बचत दर करीब 24 प्रतिशत रही है जो विश्व रिकार्ड है।) इसलिए हमारे यहां खर्च की जिम्मेदारी मध्य वर्ग के जिम्मे रख दी गयी और बचत के लिए निचले तबके को लक्ष्य रखा गया है। स्वयं सहायता समूह यही काम कर रहे हैं। देश भर में हजारों लाखों की संख्या में बने समूह यही करने में जुटे हैं। वह लोगों से पैसा जुटाकर कोष बनाते हैं और उसी कोष से एक छोटी धनराशि उन्हीं को बतौर ऋण देते

हैं। हजारों करोड़ रुपये के बचत का यह अर्थशास्त्र अंततः वित्तीय पूंजीवाद के लिए निवेश का साधन बनेगा और गैर सरकारी क्षेत्र इसका ध्वजवाहक।

कुल मिलाकर विदेशी फंडिंग का पूरा ढांचा चरमरा सा गया है। यूरोप और अमेरिका के लोग गरीब मुल्कों का उद्धार करने के लिए स्वेच्छा से जो दान करते थे उसमें भारी कमी आयी है। इसका एक कारण धुआंधार खर्च की नसीहत देने वाली उपभोक्ता संस्कृति हैं 'स्पेंडिंग' सिद्धांत ने 'सेविंग' पर लगभग रोक लगा दी है। चूंकि उदारीकरण के चलते यूरोपीय देशों के लोगों में भी असुरक्षा की भावना बढ़ी है लिहाजा अब वे अपनी कमाई का एक हिस्सा खुद के लिए बचाकर रखने लगे हैं ताकि नौकरी छूटने की स्थिति में उस रकम से अपना गुजर-बसर कर सकेंगे। चर्च में इकट्ठा होने वाला धन भी काफी कम हुआ है। यानी फंडिंग के गैर सरकारी स्रोत सूख रहे हैं, और सरकारी स्रोत में बेतहाशा बढ़ोत्तरी हुई है। इन सारी चीजों का असर यह हुआ कि विकसित देशों की सरकारें अब फंडिंग एजेंसी की भूमिका में आ गयी हैं और उनसे अनुदान लेने वाले हमारे देश के एन.जी.ओ. उनके पिछलग्गू बन गये हैं।

अब सवाल उठता है कि ऐसा विदेशी अनुदान लेना उचित है या नहीं? एक जमाना था कि ईस्ट इंडिया कंपनी का जब मुनाफा बढ़ता था उसका सीधा लाभ ब्रिटेन को होता था लेकिन अब ऐसा नहीं है। भूमंडलीकरण ने राष्ट्र-राज्य की धारणा को कमजोर किया है। एक बहुराष्ट्रीय कंपनी सैकड़ों देशों में कारखाना चलाती है और उसके मुनाफे से कोई एक नहीं सभी देश लाभान्वित होते हैं। कई कंपनियां तो अपना मूल देश छोड़कर दूसरे देशों में भाग रही हैं। 'हुडई' का उदाहरण हमारे सामने हैं यह कंपनी मूलतः कोरिया की थी लेकिन वहां अपना कारखाना बंद कर 75 हजार लोगों को बेकार कर अब चेन्नई में कारखाना चला रही हैं इसलिए जो लोग भूमंडलीकरण के पक्षधर हैं, सरकार द्वारा सामाजिक क्षेत्र को अलविदा कह देने के हिमायती हैं और हर सामाजिक सरोकार को बाजार के भरोसे छोड़ देना चाहते हैं वे लोग यदि विदेशी फंडिंग पर आपत्ति करते हैं तो ये बेमानी है। लेकिन जो लोग राष्ट्र-राज्य

की अवधारणा को तिलांजलि नहीं देना चाहते और कल्याणकारी राज्य के हिमायती हैं यदि वे लोग विदेशी फंडिंग का विरोध करते हैं तो हमें मान्य हैं इसलिए विदेशी फंडिंग के विरोध या समर्थन का पूरा मामला राजनीतिक है। इसका तकनीकी उत्तर ढूँढने की कोशिश नहीं की जानी चाहिए।

विश्व हिन्दू परिषद और आर.एस.एस. के लोग इसका जोर-शोर से विरोध करते हैं। ठीक उसी तरह जैसे एक जमाने में श्रीमती इंदिरा गांधी ने किया था। दरअसल इन दोनों की मंशा एक ही है। आर.एस.एस. और विहिप को विदेशी पैसा आने पर आपत्ति नहीं है। उनकी आपत्ति है कि उस पैसे को नियंत्रित कौन करे। वह किसे प्राप्त हो और किसे नहीं? यही चिंता श्रीमती गांधी की भी थी। आखिर विहिप के विदेशों में कई दफ्तर हैं वहां चंदा इकट्ठा होता है और विहिप तक गैर कानूनी वास्ते से पहुंचता भी है। विहिप और आर.एस.एस. की समूची कार्य पद्धति संवैधानिक सीमाओं के ऊपर है। अन्य सभी गैर सरकारी संगठनों पर सरकार के नियम-कानून लागू होते हैं। लेकिन ये दोनों इन नियम-कानूनों से ऊपर हैं। इनसे जुड़े कई दर्ज संगठन हैं। कुछ सीधे देशी-विदेशी अनुदान भी लेते हैं। वह अनुदान राशि चोरी-चुपके इन तक पहुंचती है। कोई शोध करे तो पता चल जाएगा कि संस्कार भारती और बनवासी सेवा आश्रम जैसी इनसे जुड़ी संस्थाएं कितना देशी-विदेशी अनुदान पाती हैं और वह अनुदान राशि इन तक कैसे पहुंचती है। वास्तव में संघ परिवार की मूल चिंता यह है कि चर्च को मिलने वाला विदेशी धन कैसे बंद हो जाय और यह धन उन्हें मिलने लगे। अगर चर्च को मिले भी तो उस पर अधिकार संघ परिवार का हो।

विदेशी अनुदान पर नियंत्रण का सवाल सबसे पहले 1976 में तब उठा जब आपातकाल लागू था। देशी-विदेशी अनुदान से चलने वाली संस्थाएं तब आंदोलन का केंद्र बनी हुई थी। इसके पीछे राजनीति थी। दूसरी बार मामला 1984 में उठा क्योंकि तब पंजाब मुंह बाये खड़ा थी और गुरुद्वारों को विदेशों से भारी धनराशि मिलती थी। इसके पीछे भी राजनीति थी। एफ.सी.आर.ए.

का कानून उसी समय लाया गया। तर्क दिया गया कि सिख आतंकवाद को रोकने के लिए यह जरूरी है जबकि सबको पता था कि आतंकवादियों को विदेश से पैसा किसी बैंक के जरिये नहीं गुप्त रास्ते से आता है। सरकार को भी पता था कि एफ.सी.आर.ए. लगाने से आतंकवादियों को मिलने वाली राशि नहीं रोकी जा सकती फिर भी कानून बना तो इसलिए कि इस नाम पर अन्य संस्थाओं पर अंकुश लगाया जा सकता है। यह वैसी ही राजनीति थी जैसी अब संघ परिवार करना चाहता है। पिछले चुनाव में भारत के तेरह एन.जी.ओ. ने मिलकर 'कम्बैट कम्युनालिज्म' नाम से अखबारों में इशतहार जारी किया था। इसे राजनीतिक कार्रवाई मानते हुए इन सबके खिलाफ सरकार ने कानूनी नोटिस जारी किया जबकि वही सरकार पिछले सात वर्षों से विदेशी पैसे से पंचायती राज लागू कर रही है। यहां तक निर्वाचित सरपंचों के शिक्षण-प्रशिक्षण का काम अब भी विदेशी पैसे से हो रहा है। क्या यह राजनीति नहीं है? सरकार इसे राजनीति नहीं मानती क्योंकि उसकी मर्जी है। एफ.सी.आर.ए. के मुताबिक जिस काम का चरित्र राजनीति से मिलता-जुलता है वैसा कोई भी काम विदेशी अनुदान से नहीं हो सकता। हर कोई जानता है कि हमारे देश की चुनावी राजनीति की बुनियाद है 'पंचायती राज' लेकिन सरकार ने उसमें धुंधलाधार विदेशी पैसे की छूट दे रखी है। इसलिए मैं कहता हूँ कि यह पूरा मसला मूलतः राजनीतिक है— नैतिक या वैधानिक नहीं।

एक बात और जिसका यहां जिक्र करना प्रासांगिक होगा। पुराने समाजवादियों, सर्वोदय के कुछ कार्यकर्ताओं और वामपंथियों का एक पुराना तर्क रहा है कि ज्यों-ज्यों देशी-विदेशी अनुदान पाने वाले गैर सरकारी संगठनों का विस्तार होता गया त्यों-त्यों उनकी ताकत घटती गयी। आंदोलन की शक्ति को कमजोर करने में एन.जी.ओ. की प्रमुख भूमिका रही। जो क्षमतावान कार्यकर्ता इन पार्टियों के जन संगठनों की बुनियाद बनते थे वही एन.जी.ओ. की तरफ जाने लगे। यह सच है लेकिन मैं इसका कारण वह नहीं मानता जो इस धारा के लोग प्रचारित करते हैं। दरअसल मामला उल्टा है। एन.जी.ओ. के विस्तार ने इन दलों को कमजोर नहीं किया बल्कि इन दलों के कमजोर होने से एन.जी.ओ. का विस्तार हुआ। मैं पहले कह चुका हूँ कि सरकार और दलों से जो जगह छूट जाती है उस जगह को गैर सरकारी क्षेत्र

भरने का काम करता हैं। पार्टियां यदि मुस्तैदी से अपना काम करती रहती तो शायद एन.जी.ओ. क्षेत्र की धारा ही नहीं पनपती। उनका विस्तार तो कतई नहीं होता। जनता पार्टी के प्रयोग की असफलता वामपंथियों के सांगठनिक तंत्र में लोकतांत्रिक मूल्यों का घटना और विपरीत विचार रखने वालों को हाशिये पर धकेलने की प्रवृत्ति का बढ़ना— ये ऐसी चीजें थी जिनसे उस दौर के क्षमतावान कार्यकर्ताओं का जबर्दस्त मोहभंग हुआ। अगर एन.जी.ओ. नाम का क्षेत्र अस्तित्व में न आया होता तो इन कार्यकर्ताओं में एक खास तरह का 'सीनीसीज्म' पैदा होता जो एन.जी.ओ. में जाने के मुकाबले कहीं ज्यादा खतरनाक होता। वह समूची पीढ़ी पागलों की तरह गलियों में घूमती रहती और लोग उस पर कंकड़ मारते होते। इसलिए मैं मानता हूं कि पुराने समाजवादियों, कम्युनिस्ट पार्टियों और सर्वोदयियों को गैर सरकारी क्षेत्र पर तोहमत लगाने के बजाय अपना खुद का आत्मनिरीक्षण करना (इंट्रास्पेक्शन) चाहिए। वह सुधर गये होते तो शायद एन.जी.ओ. नाम की संस्था अस्तित्व में ही न आयी होती। अगर ये लोग यही मानते रहेंगे कि गैर सरकारी क्षेत्र का उद्भव और विकास किसी साजिश के तहत हुआ है तो तब मानिये कि इनके समक्ष आगे भी मुश्किलें खड़ी होंगी और उनसे पार पाना इनके बस में नहीं होगा।

दरअसल, मूल मुद्दा विदेशी फंडिंग, एन.जी.ओ. बनाम जन आंदोलन की शक्तियों के बीच टकराव का होना नहीं हैं। जब जिन्दगी के सारे सरोकार बाजार के हवाले कर दिये जाएंगे तब जंगल राज होगा और उसी का अस्तित्व बचा रह जाएगा जो समृद्ध और शक्तिशाली होगा। एक विशाल जनसंख्या समूची प्रक्रिया से बहिष्कृत हो जाएगी। इस जंगलराज में एन.जी.ओ. नाम के तंत्र की भूमिका महज गीदड़ की रह जाएगी। ऐसे गीदड़ की जो अपना शिकार नहीं खाता दूसरों द्वारा छोड़ा हुआ शिकार खाता हैं चूंकि एन.जी.ओ. क्षेत्र की भूमिका काफी हद तक सेप्टी वाल्व की रही है इसलिए बाजार के हाहाकारी दिनों में भी यह क्षेत्र उसका पिछलग्गू बनकर अपनी वह भूमिका निभाएगा। ऐसे में वे ईमानदार एन.जी.ओ. जो बाजार का ठेकेदार नहीं बनना चाहते और जन आंदोलन की शक्तियों को एक मंच पर आने का प्रयास करना चाहिए। आपसी सहयोग बढ़ाना चाहिए। इसके कई प्रयास हुए हैं लेकिन

अभी तक कुछ खास निकला नहीं है। अगर इसे आगे बढ़ाया जा सका तो शायद भूमंडलीकरण के खिलाफ एक सशक्त आवाज उठायी जा सकती है आखिर जिंदगी के सारे सरोकार बाजार के हवाले नहीं किये जा सकते। इसे करने के लिए जो आमादा है वे भी इस तथ्य से वाकिफ है।

एन.जी.ओ. : मुद्दा एक सवाल अनेक

अरुण पाण्डेय

एन.जी.ओ. यानी गैर सरकारी क्षेत्र को लेकर नाना प्रकार के सवाल उठ रहे हैं। जबसे समाज में गैर सरकारी संगठनों की भूमिका और उनके काम-धाम का विस्तार हुआ है तबसे ऐसे प्रश्नों की संख्या भी बढ़ी है। प्रश्न उठाने वालों की तादाद में भी इजाफा हुआ है। इन प्रश्नों और उनको उठाने वाले लोगों का दायरा व्यापक हुआ है। एन.जी.ओ. क्षेत्र से जुड़े लोगों और उससे बाहर रहकर समाज के विभिन्न हिस्सों में सक्रिय दोनों ही खेमों में ऐसे लोग मौजूद हैं। कोई वास्तविक चिंता के तहत सवाल खड़ा करता है तो कोई इस क्षेत्र से संबंधित जानकारियों के अभाव में अपनी आशंका प्रकट करता है। कोई एन.जी.ओ. क्षेत्र के अंतरविरोधों को जानने-समझने के क्रम में सवाल उठाता है तो कोई सब कुछ जान-समझकर अपने अनुभवों का हवाला देते हुए प्रश्न खड़ा करता है। ऐसे लोगों की भी संख्या कम नहीं है जो समूचे एन.जी.ओ. क्षेत्र को एक षड्यंत्र का हिस्सा मानते हैं। इनमें से कुछ एन.जी.ओ. क्षेत्र को विदेशी ताकतों का षड्यंत्र मानते हैं तो कुछ देशी तत्वों के इशारे पर चलने वाले एक ऐसे क्षेत्र की संज्ञा देते हैं जो निहित स्वार्थ की उपज है। ऐसे लोग भी हैं जो एन.जी.ओ. चलाने वालों को आत्म संतुष्टि के लिए स्वान्तः सुखाय का उपक्रम मानते हैं। इस क्षेत्र के नामी-गिरामी व्यक्तियों को धंधेबाज की उपाधि देने वाले भी कम नहीं हैं। गैर सरकारी क्षेत्र को लेकर उठ रहे सवालों को निम्न बिंदुओं के तहत सूत्रबद्ध किया जा सकता है :

1. शायद सबसे पहला और प्रमुख सवाल इस क्षेत्र की परिभाषाओं को लेकर उठता है। चूंकि परिभाषा से भूमिका का प्रश्न जुड़ा हुआ है इसलिए इसकी अहमियत बढ़ जाती है। इस क्षेत्र को क्या कहा जाय— स्वयंसेवी संगठन या गैर सरकारी संगठन? भारत में प्रारंभ से ही समाज में स्वयंसेवा की परंपरा रही है। वे लोग जो अपने को गांधी और विनोबा की स्वयंसेवा वाली परंपरा का अभिन्न अंग मानते हैं उन्हें गैर सरकारी संगठन या एन.जी.ओ.

जैसे शब्द अच्छे नहीं लगते। इन शब्दों में उनहें पेशेवरपन की बू आती है और संस्था यानी फंडिंग एजेंसी के प्रति ज्यादा और समाज के प्रति कम जवाबदेही दिखाई पड़ती है। चूंकि गैर सरकारी क्षेत्र को बाकायदा संस्थाबद्ध स्वरूप प्रदान करने का काम शायद अस्सी के दशक की परिघटना है लिहाजा 'स्वयंसेवी' धारा के लोग एन.जी.ओ. काम की अवधारणा को अपनी खुद की परंपरा से कटी हुई धारा मानते हैं। अपने धर्म, समाज, संस्कृति और आचार-व्यवहार के साथ-साथ जरूरतों के मद्देनजर भी उन्हें यह नयी अवधारणा अप्रासंगिक लगती है। इन लोगों के दिमाग में स्वयंसेवी क्षेत्र से जुड़े लोगों के लिए ऊंचे टीले पर बैठने वाले एक ऐसे व्यक्ति की छवि उभरती है जिसे पूरा समाज संत-महात्मा मानता है और वह स्वयंसेवी व्यक्ति सब कुछ न्यौछावर कर समाज हित में अपने को कुर्बान कर देता है। कुछ-कुछ उसी तरह जैसे कि शांति और ज्ञान की तलाश में हमारे महापुरुष किया करते थे। स्वयंसेवा बनाम एन.जी.ओ का सवाल उठाने वालों में भी मोटे तौर पर दो तरह के लोग हैं। एक, वास्तव में मन से यह सवाल उठाते हैं और सचमुच वे समाज में यह भूमिका निभा रहे होते हैं या निभाने का प्रयास करते हैं। जाहिर है कि इनकी संख्या बेहद कम है और उन्हें उंगुलियों पर गिना जा सकता है दूसरे, वे लोग हैं जो बेवजह का वितंडा खड़ा करने के लिए ऐसे प्रश्न उठाते रहते हैं जबकि मौका मिलते ही वे 'स्वयंसेवा' छोड़ एन.जी.ओ. बनाने को तत्पर हो जाते हैं या हो सकते हैं।

2. गैर सरकारी संगठनों में सक्रिय लोगों की ओर से भी कई सवाल खड़े किये जा रहे हैं। पहला सवाल एन.जी.ओ. की भूमिका को लेकर उठ रहा है। एक तबके का मानना है कि अधिकांश एन.जी.ओ. की भूमिका फंडिंग एजेंसियों के ठेकेदार की हो गयी है। वे देश और समाज की जरूरतों के बजाय फंडिंग एजेंसियों के एजेंडे पर काम करते हैं। इस तर्क को खारिज करते हुए दूसरा तबका इस भूमिका को उचित मानता है वह प्रोफेशनलिज्म का तर्क देता है और कहता है कि ईमानदारी से विकास कार्य हो इसके लिए फंडिंग एजेंसियों का ठेकेदार बनाना जायज है।

3. सवाल विदेशी पैसे को लेकर भी है। एक तबका देशी अनुदान को जायज मानता है जबकि विदेशी अनुदान को अनैतिक। दूसरा तबका देशी-विदेशी हर तरह के अनुदानों को जायज मानता है और मूल सवाल पैसे के सही इस्तेमाल को लेकर उठाता है। इस तबके की मान्यता है कि काम जनहित में ईमानदारी के साथ किया जाना चाहिए चाहे वह देशी पैसे से हो या विदेशी पैसे से। इन दोनों प्रवृत्तियों से इतर एक तीसरी प्रवृत्ति भी एन.जी.ओ. क्षेत्र में मौजूद है जो पैसे के सवाल को बिल्कुल भिन्न तरीके से देखती है। इस धारा से जुड़े लोगों का सवाल देशी-विदेशी से नहीं बल्कि जिस स्रोत से पैसा आता है उस स्रोत की पवित्रता से जुड़ा है। यह तबका उसी पैसे को बतौर अनुदान लेने की वकालत करता है जो पैसा पवित्र स्रोतों से आया हो। मसलन, किसी अपराधी, माफिया या कालाबाजारी और नापाक पूंजीपति से मिली अनुदान राशि को अपवित्र मानता है चाहे वे देशी हों या विदेशी। यह तबका इन स्रोतों के बजाय अमीर मुल्कों के आम मध्य वर्गीय परिवारों से चंदे के बतौर प्राप्त होने वाले अनुदान राशि को ज्यादा अहमियत देता है।
4. विदेशी पैसे के समर्थकों की एक धारा ऐसी भी है जो यह तर्क देती है कि जब पूरे भारत का कामधाम ही विश्व बैंक या मुद्रा कोष के कर्ज या अनुदान से हो रहा है तब एन.जी.ओ. के लिए देशी-विदेशी अनुदान में फर्क करना नाजायज है। कम से कम यह सवाल उठाने का उन्हें तो कत्तई हक नहीं है जो भूमंडलीकरण के समर्थक हैं और राष्ट्र की सीमाओं को तोड़कर समूचे विश्व को एक 'ग्लोबल विलेज' की तरह देखते हैं।
5. एन.जी.ओ. के अंदर कुछ दूसरे तरह के सवाल भी उठ रहे हैं। मसलन, लाइफ स्टाइल, जीवन पद्धति, रहन-सहन के तौर-तरीके, कार्यकर्ताओं और अधिकारियों के वेतन आदि। एक तबका है जो कम वेतन और सादगी वाले जीवन की पैरोकारी करता है जबकि दूसरा तबका है जो इसे अनावश्यक की बहस मानता है वह इस क्षेत्र में सक्रिय लोगों की क्षमता और जरूरतों के अनुसार अधिक से अधिक वेतन देने का समर्थक है। वह एन.जी.ओ. को एक समाज सुधारक की तरह देखने के बजाय एक पेशेवर संगठन की तरह देखना चाहता

है। क्षमतावान और प्रतिभावान तत्वों को इस क्षेत्र में टिकाये रखने के लिए उनकी जरूरतों से कन्नी काट लेना वह समूचे एन.जी.ओ. क्षेत्र के लिए घातक मानता है।

6. सवाल पारदर्शिता और भ्रष्टाचार को लेकर भी उठ रहे हैं। जब से कपार्ट की ओर से 'काली सूची' जारी हुई तबसे यह सवाल और तेजी से उठा है। हर गैर सरकारी संगठन अपने आय-व्यय का ब्यौरा सार्वजनिक करे और उसकी हर कार्यवाही की जानकारी जनता को मिले- ऐसे भी लोग हैं जो 90 प्रतिशत एन.जी.ओ. को भ्रष्ट मानते हैं।
7. एन.जी.ओ. से जुड़े लोगों में ही एक तबके की राय है कि अगर पारदर्शिता नहीं हुई और भ्रष्टाचार पर अंकुश लगाने का तरीका नहीं खोजा गया तो जल्दी ही यह क्षेत्र भी सरकारी क्षेत्र की तरह हो जाएगा। पता चला कि अनुदान राशि के एक छोटे हिस्से का ही सही इस्तेमाल हो पा रहा है और बाकी का बंदरबांट हो जा रहा है जैसा सरकारी फंड के साथ होता है।
8. अनुदान पाने के लिए कुकुरमुत्ते की तरह उग आये ढेरों फर्जी एन.जी.ओ. बनने की घटना से भी कई ईमानदार एन.जी.ओ. आहत हैं। ऐसे फर्जी संगठनों के बनने पर रोक लगाने के लिए भी आवाज उठ रही है।
9. इधर हाल के दिनों में कई आई.ए.एस. या तो अवकाश लेकर डेपुटेशन पर या नौकरी छोड़कर पूरी तरह महत्वपूर्ण फंडिंग एजेंसियों के शीर्ष पर पहुंचे हैं। इस परिघटना को भी कुछ लोग शंका की दृष्टि से देख रहे हैं। एक तबके की राय में यह सरकार की उस सुनियोजित साजिश का अंग है जिसके तहत सरकार एन.जी.ओ. क्षेत्र को भी घुमा फिराकर नियंत्रण में लेना चाहती है। दूसरा तबका इसे नौकरशाही की खुद की दिलचस्पी मानता है

और कहता है कि वे ही आई.ए.एस., एन.जी.ओ. में जा रहे हैं जिनका सरकारी तंत्र से मोहभंग हो चुका है या जिनकी पृष्ठभूमि स्वयंसेवा की रही है।

10. कुछ ऐसे भी सवाल उठे हैं जिनमें नेताओं और नौकरशाहों के गठजोड़ से उनके रिश्तेदार एन.जी.ओ. बनाकर भारी मात्रा में देशी-विदेशी अनुदान प्राप्त करते हैं, जो एन.जी.ओ. क्षेत्र के लिए चिंता की बात है।

ये सारे सवाल मूलतः उनके हैं जो एन.जी.ओ. क्षेत्र से जुड़े हैं, उसमें सक्रिय हैं। उनसे बाहर वालों की भी कई आशंकाएं हैं जिन्हें निम्न बिंदुओं के तहत सूत्रबद्ध किया जा सकता है—

11. एन.जी.ओ. नाम की संस्था के विरोध का सबसे मुखर स्वर उन राजनीतिक दलों या संगठनों का है जो या तो कम्युनिस्ट या सोशलिस्ट विचारधारा को मानते हैं। ग्रासरूट पर सक्रिय इन राजनीतिक संगठनों को लगता है कि एन.जी.ओ. नाम की अवधारणा उनके आंदोलनों को दबाने के लिए अस्तित्व में आयी। 'आंदोलन' के समानांतर 'विकास' की नीति के तहत सक्रिय ज्यादातर एन.जी.ओ. को यह खेमा विदेशी पूंजीवादी ताकतों का षड्यंत्र मानता है। यह सभा भी कई तरह के समूहों में विभाजित है और हर समूह की थोड़ी-थोड़ी अलग किस्म की राय भी है।

12. कम्युनिस्टों का एक खेमा एन.जी.ओ. को पूरी तरह पूंजीवाद या शासक वर्ग की साजिश मानता है और आंदोलन की शक्ति को क्षीण कर देने का एक औजार समझता है। इस खेमे में हाशिये और मुख्य धारा का प्रतिनिधित्व करने वाले दोनों ही तरह के नेता हैं।

13. करीब-करीब ऐसी ही सोच समाजवादियों के भी एक तबके की है जिसे आंदोलन चलाते-चलाते अरसा हो गया लेकिन बात नहीं बनी। उलटे उसके कई कार्यकर्ता अपनी निजी समस्याओं से ग्रस्त होकर रोजी-रोटी के लिए एन.जी.ओ. की ओर चले गये। कुछ सैद्धांतिक रूप से भी आंदोलन के बजाय विकास की अवधारणा से सहमत हो गये।

आंदोलन के जुझारू कार्यकर्ताओं का इन दलों से मोहभंग होना और उनमें से कुछ का एन.जी.ओ. की ओर जाना अस्सी के बाद की सार्वभौमिक परिघटना है। लिहाजा कार्यकर्ताओं के पतन या एन.जी.ओ. द्वारा उन्हें बहका लेने की शिकायत अक्सर इस खेमे से होती है।

14. कम्युनिस्टों और समाजवादियों में एक ऐसा खेमा भी है जो एन.जी.ओ. नाम की संस्था के बारे में एक संतुलित विचार रखता है। मसलन, किसी देशी-विदेशी षड्यंत्र की बजाय इस क्षेत्र के विस्तार में अपनी नाकामयाबियों की भी शिनाख्त करने की कोशिश करता है।

15. दरअसल, एन.जी.ओ. क्षेत्र में गये कुछ जिम्मेदार-ईमानदार पुराने कम्युनिस्ट-समाजवादी कार्यकर्ताओं ने जब 'लेफ्ट ओवर स्पेस' यानी समाज में जो जगह मुख्य धारा से नहीं भरती उसे गैर सरकारी क्षेत्र भर देता है- की सोच की व्याख्या शुरू की तो उसका असर इस खेमे के चिंतकों पर भी पड़ा।

16. शायद यही वजह है कि इस खेमे के कई नेता कार्यकर्ता उन गैर सरकारी संगठनों के साथ संयुक्त पहल की भी बात कर रहे हैं जो एन.जी.ओ. ईमानदार हैं और विकास समर्थक हैं लेकिन आंदोलनविरोधी नहीं। यह भूमंडलीकरण के बाद हुआ है क्योंकि कई एन.जी.ओ. इसके विरुद्ध विश्वव्यापी अभियान में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहे हैं।

17. एन.जी.ओ. क्षेत्र को लेकर एक आम सवाल उठता है जिसका सीधा संबंध राजनीतिकरण और लोकतांत्रिक प्रक्रिया से है। एन.जी.ओ. विशेष की जवाबदेही इसका अनिवार्य अंग है। आखिर एन.जी.ओ. की जवाबदेही किसके प्रति है? जनता और देश की लोकतांत्रिक संस्थाओं के प्रति या अनुदान देने वाली फंडिंग एजेंसियों के प्रति?
18. नेता, विधायक, सांसद को जनता बदल सकती है। नौकरशाह को भी सरकारें दंडित कर सकती हैं लेकिन एन.जी.ओ. को पटरी पर लाने का काम कौन करेगा? जरूरत पड़ी तो उन पर अंकुश कौन-कैसे लगाएगा? यह सवाल प्रमुखता से उठता रहता है।
19. राजनीतिक समूहों में एक संघ परिवार भी है जो एन.जी.ओ. के प्रति शंका की दृष्टि रखता है। वह उन एन.जी.ओ. के खिलाफ आग उगलता है जो विदेशी पैसा लेते हैं लेकिन उनसे उसे कोई आपत्ति नहीं है जो देशी पैसा लेते हैं। यही नहीं विदेश में रह रहे अनिवासी भारतीयों से धन लेने को भी वह उचित मानता है। भारत के चर्च को मिलने वाली धनराशि पर भी उन्हें आपत्ति है।
20. संघ परिवार की इन आपत्तियों को एन.जी.ओ. में सक्रिय लोग नाजायज मानते हैं और शंका व्यक्त करते हैं कि संघ के लोग दरअसल चर्च को मिलने वाले पैसे पर अपना नियंत्रण चाहते हैं।

संस्थाओं में पारदर्शिता हो

अरुणा राय

मैं अपनी बात सूचना के अधिकार को लेकर चलाये गये आंदोलनों के अनुभवों से शुरू करूंगी। आज से करीब 7-8 साल पहले जब यह आंदोलन शुरू हुआ तो अक्सर अखबार के लोग यही समझते थे कि हम लोगों ने जिस 'मजदूर किसान शक्ति संगठन' का निर्माण किया है वह भी एक एन.जी.ओ. है। लोगों को यह भी लगता था कि पारदर्शिता और सूचना के अधिकार की बात अक्सर एन.जी.ओ. ही उठाते हैं – इन सवालों से मजदूरों-किसानों का क्या लेना-देना? जबकि सचाई यह है कि उस वक्त भारत में ऐसा कोई एन.जी.ओ. नहीं था जो सूचना के अधिकार पाने के लिए आंदोलन चला रहा हो। यही नहीं पत्रकारों, वकीलों अथवा अन्य पेशेवर लोगों के किसी संगठन ने भी उन आधारों को केंद्र में रखकर कभी सूचना के अधिकार की बात नहीं की जिन आधारों को 'मजदूर किसान शक्ति संगठन' ने केंद्र में रखा। हमारा आंदोलन लोगों के जीने के अधिकार से जुड़ा था। नीतियां बनाने से लेकर उनके क्रियान्वयन और अंततः समूचे विकास कार्यों पर जनता की निगरानी की अवधारणा की उपज था सूचना का अधिकार आंदोलन।

सबसे पहले मैं स्पष्ट कर दूँ कि हमारा 'मजदूर किसान शक्ति संगठन' (एम.के.एस.एस.) एक राजनीतिक जन संगठन है न कि एन.जी.ओ.। हमने प्रारंभ में ही यह निर्णय ले लिया था कि न तो हम किसी विदेशी फंडिंग एजेंसी से अनुदान लेंगे और न ही भारत सरकार या उसके सहयोग से चलने वाली किसी संस्था से कोई धन प्राप्त करेंगे। जनता के पैसे से राजनीति करेंगे, संगठन बनाएंगे और आंदोलन चलाएंगे। जो लोग हमें एन.जी.ओ. कहते हैं उन्हें दुर्भाग्य से एम.के.एस.एस. के बारे में कोई जानकारी नहीं है।

देशी-विदेशी अनुदान न लेने के निर्णय का भी एक इतिहास है। बात 1968 की है। विश्वविद्यालय की पढ़ाई पूरी करने के बाद मुझे दिल्ली के एक कॉलेज में अध्यापकीय मिल गयी थी। 1968 में ही मैंने आई.ए.एस. की परीक्षा दी जिसमें मुझे सफलता मिल गयी। संघ राज्य क्षेत्र का कैडर मिला और दिल्ली में ही मेरी नियुक्ति हो गयी। 1970 में मेरी शादी बंकर राय से हुई जो कुछ ही दिनों बाद राजस्थान के सूखाग्रस्त गांवों में काम करने के लिए सब कुछ छोड़कर गांव चले गये। बंकर ने कुछ ही दिनों बाद 1972 में तिलोनिया में 'सोशल वर्क रिसर्च सेंटर' (एस.डब्ल्यू.आर.सी.) नाम का एक स्वयंसेवी संगठन जिसे अब एन.जी.ओ. भी कहा जाता है, बनाया। 1970 से 1974 तक करीब पांच साल मैंने आई.ए.एस. की नौकरी की। उन दिनों मुझे नाना प्रकार के अनुभव प्राप्त हुए। संजय गांधी का जमाना था। बड़े-बड़े नौकरशाह न सिर्फ संजय के आगे दुम हिलाते थे बल्कि संजय का नाम लेकर कोई फोन आता था तो हड़बड़ी में कुर्सी से उठकर उसे 'रिसीव' करते थे। 1974 में जब जे.पी. आंदोलन शुरू हुआ तो देश में एक अलग तरह का माहौल बना। मेरी कोई खास राजनीतिक समझ नहीं थी लेकिन मुझे इतना जरूर लगा कि जो सोचकर मैं आई.ए.एस. की नौकरी में आयी थी वह यहां रहकर पूरा नहीं हो सकता। बंकर का काम मुझे ज्यादा अच्छा लगा और अचानक नौकरी छोड़कर मैं तिलोनिया आ गयी।

तिलोनिया आना मेरे भीतर का एक रोमैंटिसिज्म भी हो सकता है। बहरहाल, करीब दस वर्षों तक तिलोनिया स्थित एन.जी.ओ. के साथ काम करते हुए मैंने बहुत कुछ सीखा। शुरुआत में मुझे लगता था कि अगर ईमानदारी से काम किया जाय तो एन.जी.ओ. के जरिये बहुत कुछ हासिल किया जा सकता है। संविधान नियम-कानून और सरकारी-गैर-सरकारी स्वायत्त संस्थाओं की मदद लेकर बहुत सारी चीजों का व्यावहारिक धरातल पर क्रियान्वयन किया जा सकता है। चूंकि नौकरशाही में काम करने का मेरा अनुभव बहुत कड़वा था इसलिए लगता था कि गैर-सरकारी प्रयासों के जरिये लालफीताशाही से दूर रहते हुए तमाम तरह के विकासात्मक कार्य पूरे किये जा सकते हैं। लेकिन कुछ ही वर्षों बाद मैं इसके ठीक विपरीत सोच पर पहुंचने को मजबूर हुई। अब मैं स्पष्टतः यह कह सकने की स्थिति में हूं कि

देशी-विदेशी अनुदान लेकर किसी एन.जी.ओ. के जरिये एक सीमा में रहकर कुछ विकास के काम तो किये जा सकते हैं लेकिन बदलाव की राजनीति नहीं की जा सकती है, आंदोलन नहीं चलाया जा सकता है। दरअसल, जब कोई संस्था, चाहे वह भारत सरकार हो या कोई राज्य अथवा विदेशी फंडिंग एजेंसी, किसी एन.जी.ओ. को अनुदान देती है तो उसकी कुछ शर्तें भी होती हैं। कोई जरूरी नहीं कि ये शर्तें घोषित हों। कई बार देशी-विदेशी अनुदान लेने वाले लगभग सभी गैर-सरकारी संगठनों को कुछ अघोषित शर्तें मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है। इन एन.जी.ओ. को अनुदान देने वाली संस्था के बनाये गये नियम-कानूनों के दायरे में ही काम करना पड़ता है। ऐसे एन.जी.ओ. विकास कार्यों में एक निश्चित भूमिका तो अदा कर सकते हैं लेकिन समूचे सरकारी तंत्र से वे लड़ नहीं सकते जबकि अक्सर लड़ने की जरूरत पड़ती है। भारत जैसे देश में तो बने-बनाये नियम-कानूनों के क्रियान्वयन के लिए भी जनसंघर्ष के रास्ते पर चलना पड़ता है। इसलिए मुझे लगता है कि जब कोई एन.जी.ओ. देशी-विदेशी अनुदान के जरिये काम शुरू करता है तो वह अपने लिए एक सीमारेखा खींच लेता है। यह सीमारेखा उसकी लक्ष्मण रेख बन जाती है जिसके पार जाने का अर्थ नाना प्रकार के रावणों की दुश्मनी मोल लेना होता है।

इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि एन.जी.ओ. नाम की संस्था को एक सिरे से खारिज कर दिया जाना चाहिए। गैर-सरकारी संगठनों की एक भूमिका आज भी मौजूद है। खासतौर पर तब जब अनेक सरकारी संस्थाओं का निजीकरण हो रहा हो। यह भी सही है कि ऐसे कई एन.जी.ओ. हैं जो सरकारी तंत्र के मुकाबले कहीं ज्यादा जमीन से जुड़कर काम करते हैं और उसका लाभ समाज के आखिरी पायदान पर खड़े लोगों तक भी पहुंचता है। मैं यहां जो बात कह रही हूं वह उन एन.जी.ओ. के संदर्भ में है जो ईमानदार हैं। इनकी संख्या काफी कम है। अधिकांश एन.जी.ओ. तो सिर्फ फर्जीवाड़ा करने के लिए ही बनते और समाप्त हो जाते हैं। ऐसे फर्जी गैर-सरकारी संगठनों को प्रतिबंधित किया जाना चाहिए। उनकी बाकायदा जांच होनी चाहिए और उनको मिलने वाली धनराशि का हिसाब-किताब सार्वजनिक किया जाना चाहिए।

सच पूछिए तो सूचना के अधिकार और पारदर्शिता के दायरे में एन.जी.ओ. नाम की संस्था को ले आना चाहिए। जो एन.जी.ओ. जिस क्षेत्र विशेष में सक्रिय है उस क्षेत्र की आम जनता को यह जानने का पूरा अधिकार है कि उसे कहां से कितनी अनुदान राशि प्राप्त होती है और उसका इस्तेमाल वह कहां और कैसे करता है। दरअसल, इसका भी मुझे एक कटु अनुभव तब प्राप्त हुआ जब हमने एस.डब्ल्यू.आर.सी. से अलग होकर एम.के.एस.एस. का गठन किया और सूचना के अधिकार आंदोलन की शुरुआत की। हुआ यह कि जब आंदोलन गति पकड़ने लगा और अखबारों में उसे जगह मिलने लगी तब राजस्थान के तत्कालीन मुख्यमंत्री भैरो सिंह शेखावत ने एक बयान दिया कि सिर्फ सरकार ही नहीं बल्कि एन.जी.ओ. का भी कच्चा-चिढ़ा जनता के बीच रखा जाना चाहिए। चूंकि एस.डब्ल्यू.आर.सी. के मुख्य कर्ताधर्ता बंकर राय मेरे पति थे लिहाजा भैरो सिंह ने यह बात बंकर को ही केंद्र में रखकर कही थी। उनके इस बयान को तिलोनिया के उस एन.जी.ओ. ने भी गंभीरता पूर्वक लिया और तत्काल एक जन सुनवाई करने का फैसला हुआ। यूं तो एस.डब्ल्यू.आर.सी. का पूरा हिसाब-किताब प्रारंभ से ही खुली किताब की तरह रहा है और पारदर्शिता की वकालत करने के लिए ही अक्सर बंकर को कई सरकारी-गैर-सरकारी संस्थाओं की दुश्मनी भी मोल लेनी पड़ी थी, बावजूद इसके एस. डब्ल्यू.आर.सी. ने भरी सभा में अपना कच्चा-चिढ़ा सार्वजनिक करने का निर्णय लिया। सम्मानित पत्रकारों, वकीलों, बुद्धिजीवियों, सरकारी अफसरों और आम लोगों की बाकायदा सभा कर अब प्रति वर्ष तिलोनिया की संस्था अपना पूरा हिसाब-किताब सार्वजनिक करती है। मुझे लगता है कि यह काम सभी एन.जी.ओ. के लिए अनिवार्य बना देना चाहिए।

एन.जी.ओ. को जनता के प्रति जवाबदेह बनाया जाना चाहिए

अतुल कुमार अंजान

देश में गैर सरकारी स्वयंसेवी संगठन एन.जी.ओ. की बाढ़ आयी हुई है जो विभिन्न इलाकों में कार्यरत हैं। एन.जी.ओ. बनाना और चलाना एक फैशन हो गया है बिहार के एक जिले में 300 से ऊपर एन.जी.ओ. रजिस्टर्ड हैं जो अधिकतर कागजों पर ही अंकित हैं। एन.जी.ओ. बनाना और इसमें युवा-युवतियों को लगाना, गरीबों की सेवा करना उन्हें विकास के मार्ग पर ले जाना, समाज में फैली विसंगतियों और कुरीतियों को दूर करना, बच्चों का विकास करना, महिलाओं का विकास करना व उन्हें उत्पीड़न से बचाना, लड़कियों को शिक्षा के लिए जोर देना, लोगों में मिशनरी भावना से राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक अधिकार की रक्षा करना, उनमें जागरूकता लाकर व चेतना उत्पन्न कर परिस्थितियों के नकारात्मक प्रभाव को दूर करने के लिए संघर्ष के मैदान में लाना और परिवर्तन का मकसद है तो यह एक स्वागत योग्य काम है।

हमारे देश में 1984-85 से 'एन.जी.ओ.' का विस्तृत कार्यक्रम और विस्तार प्रारंभ हुआ है। 'एन.जी.ओ.' के विस्तार के पीछे पूंजीवादी और साम्राज्यवादी देशों की रूचि रही है। यूरोप व अन्य पूंजीवादी और साम्राज्यवादी देशों से यह प्रस्तावना आया कि सरकारी क्षेत्र का काम आर्थिक सहायता देकर गैर सरकारी संगठन 'एन.जी.ओ.'से कराया जाए। कुछ लोगों ने इसे सही माना। विकसित देशों के 'केयर' 'फोड फाउंडेशन', राक्साल सहित अन्य स्वयंसेवी संस्थाओं ने भारत में यह काम शुरू किया। पहले परिवार नियोजन का काम किया गया। इसके बाद बच्चों की शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, निरक्षरता का निवारण हेल्थ केयर और सामाजिक सरोकारों पर 'एन.जी.ओ.' की भूमिका शुरू हुई।

सामाजिक विसंगतियों, वर्णवादी व्यवस्था के खिलाफ दबाव गुट बने और उन दबाव गुटों पर समाज के शोषित, पीड़ित, उत्पीड़ित जनता और ग्रामीण क्षेत्रों में आतंक के माहौल को समाप्त करने में 'एन.जी.ओ.' को लगाने पर जोर दिया गया। इसके लिए सरकारी और गैर सरकारी स्तर पर 'एन.जी.ओ.' को फंडिंग किया जाए। कार्यक्रम चलाए जाएं। लोगों को इस काम के लिए निकाला जाए। एक सवाल यह आया कि आदिवासी क्षेत्रों में शिक्षा का अभाव है आदिवासी समाज रूढ़ियों से ग्रस्त है, लड़कियों की शिक्षा पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता, आसपास में सफाई की बात हुई। इससे भी बढ़कर खासकर सुखे इलाकों में जल और जल के प्रबंधन का सवाल आया। गांवों में सामुदायिकता की भावना जो समाप्त हो गयी थी इसे दूर करने के लिए गांव वालों में सामुदायिकता का भावना जगाना और सामुदायिक विकास करना। पानी को जमा कर रखने का सवाल, टिटनश और महिलाओं के अंदर सबसे बड़ी बीमारी 'एनमिक' को दूर करने और जनसंगठनों को खड़ा करने का भी सवाल आया।

यह भी सवाल आया कि 'एन.जी.ओ.' को सीधे फंडिंग किया जाए या फिर सरकार के माध्यम से किया जाए। इस मामले में यह निर्णय लिया गया कि जिन संस्थाओं का काम बेहतर है और उनका सभी कुछ ओपन है ऐसे संस्थाओं को सीधे फंडिंग किया जाए। सीधे फंडिंग को संस्थाएं अपनी इकाइयों के माध्यम से खर्च करें। जैसे महात्मा गांधी द्वारा बनाये गये 'हरिजन सेवक संघ'। यह संघ अक्षुत के सवाल पर अच्छा काम किया है। सीधी फंडिंग हरिजन सेवक संघ आदि संस्थाओं को सीधे और विशेष फंडिंग किया जाए। इस प्रकार की संस्थाओं से जुड़े लोगों को कार्यक्षेत्र में आने-जाने का खर्च दिया जाए।

यह बात भी सही है कि देश का संविधान बराबरी का अधिकार प्रदान करता है। संविधान में धर्म और जाति के नाम पर भेदभाव नहीं है। पर पुराने समाज में दकियानुसी हैं संकीर्णता हैं धर्म और जाति के नाम से हजारों वर्षों से शोषण उत्पीड़न चलाया गया हो उस समाज में सारी जिम्मेदारी समाज का सरकार ले ले, अच्छा है। लेकिन सरकार सभी जिम्मेदारियों को

पूरा कर ले यह बहुत बड़ा प्रश्न है देखा यह गया है कि पिछले 15-20 सालों में सरकार के काम करने के तौर-तरीके बदले हुए हैं, सरकार की जवाबदेही, प्रशासन की जवाबदेही सरकारी अमले की जवाबदेही सिकुड़ती चली जा रही है। हमारे देश में अफसरशाही ने विकराल रूप धारण कर लिया है। यहां पर हम एक राजनीतिज्ञ होने के नाते राजनीतिज्ञों और राजनीतिक दलों को माफ नहीं कर रहे हैं। राजनीतिज्ञों व राजनीतिक दलों की भूमिका और जिम्मेदारियों की सीमा भी छोटी हुई है, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है। इस देश के अंदर न्यायपालिका, कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और प्रजातांत्रिक प्रणाली ने जिम्मेदारियों, कानून, धन के स्रोत तथा व्यवस्था बनाए रखने की जिम्मेदारी जनता के चुने हुए जन प्रतिनिधियों की हैं बहुत व्यापक कानून बनाए गये पर व्यवसायिक कितनी जवाबदेह है?

देश में 'एन.जी.ओ.' की संस्कृति को काफी दूर तक ले जाने वाले लोग, समर्थक लोग देश की सामाजिक विसंगतियों और विकास में पिछड़ापन के लिए व्यवस्थापिका की विफलता मानते हैं, प्रचारित करते हैं। उपर्युक्त मुद्दों की गहराई तक पड़ताल कभी नहीं की गयी। सरकार के कार्यक्रम, शिक्षा, बच्चों-महिलाओं का विकास, बीमारियों के रोकथाम आदि किन कारणों से सफल नहीं हो पा रहे हैं। देखा यह गया है कि प्रशासनिक जटिलता ही इसके पीछे सबसे बड़ा कारण रहा है उदाहरण के लिए जिले के मुख्य चिकित्साधिकारी की जिम्मेदारी सदर अस्पताल की है, इसी अधिकारी को मलेरिया उन्मूलन, चेचक उन्मूलन, एड्स के खिलाफ प्रचार अभियान आदि की जिम्मेदारी है यह अधिकारी सप्ताह में एक दिन सदर अस्पताल का काम देखते हैं, एक दिन मलेरिया उन्मूलन का काम देखते हैं, इसी तरह व अन्य जिम्मेदारियों का निर्वाह अपने तरीके से करता है। उदाहरण के लिए एड्स के खिलाफ प्रचार के लिए 50 लाख रुपये मुख्य चिकित्साधिकारी को मिला। इसमें पहले पांच लाख की जीप खरीद ली जाती है और उसके बाद 10 लाख का पम्पलेट वगैरह छाप कर राशि को किसी तरह खपा दिया जाता है। मूल उद्देश्य की पूर्ति संभव नहीं हो पाती है।

‘एन.जी.ओ.’ ने उपर्युक्त विफलता का प्रश्न उठाकर कहा कि यह अब काम मुझे प्रदान किया जाए। यह काम ‘एन.जी.ओ.’ को मिल गया। लेकिन जिन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पैसा आता है उसके उपयोग का सवाल वहीं—का—वहीं खड़ा है ज्यादातर ‘एन.जी.ओ.’ के कार्यक्रमों व नीतियों में पारदर्शिता नहीं है, खुलापन नहीं है। इनकी नीयत भी ठीक नहीं होती है क्योंकि ज्यादातर ‘एन.जी.ओ.’ से हताश और निराश लोग ही जुड़ते हैं जिन्हें किन्ही कारणों से नौकरी नहीं मिली हो। ‘एन.जी.ओ.’ बना लिया और सरकारी व गैर सरकारी स्तर पर मिले फंडिंग का इस्तेमाल अपनी शान—शौकत बढ़ाने में हो रहा है। पहले ऐसा नहीं होता था। महात्मा गांधी द्वारा बनाए गये ‘हरिजन सेवक संघ’ ने हरिजनों के विकास पर बहुत सराहनीय कार्य मिला है। इससे जुड़े लोग नाम मात्र के मानदेय पर जुड़ते और काम करते थे। यहां एक बात और महत्वपूर्ण है। ज्यादातर ‘एन.जी.ओ.’ परिवार के अंदर की रजिस्टर्ड हैं। इस तरह के ‘एन.जी.ओ.’ के कर्ताधर्ता हवाई जहाज से यात्रा करते हैं, इनके बैलेंसशीट जनता को नहीं मालूम है। यह भी नहीं मालूम है कि इनके डोनर कौन हैं। डोनर का नाम संस्थाएं कभी नहीं लिखते हैं। इस लोगों ने मिलकर ‘एन.जी.ओ.’ खड़ा किया और बाद में वह ‘एन.जी.ओ.’ चार हिस्सों में बट गया। ये सभी बातें ‘एन.जी.ओ.’ वाले चरित्र को प्रस्तुत करती है।

कुछ ‘एन.जी.ओ.’ तो देश में वैमस्ता का बीज भी बो रही हैं। यहां की गंगा—यमुना की संस्कृति से परहेज करती हैं और इसे समाप्त करने में लगी हुई। इस श्रेणी की संस्थाएं एक विशेष विचारधारा से बंधी हुई हैं।

पूंजीवादी व साम्राज्यवादी अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी व जापान आदि देशों की भारत की गैर सरकारी संस्थाओं में रूचि है। इन देशों की फंडिंग और समर्थन से कार्यरत संस्थाओं का कार्यक्षेत्र देश के सीमांतर इलाकों में है। भारत—बांग्ला देश सीमा पर, भारत—पाकिस्तान सीमा पर काफी संस्था में ‘एन.जी.ओ.’ कार्यरत हैं जिन्हें पूंजीवादी व साम्राज्यवादी देशों द्वारा समर्थन और सहयोग किल रहा है। इन संस्थाओं का रजिस्ट्रेशन दिल्ली, मुंबई, भोपाल में है पर

कार्यक्षेत्र ईटानगर, वाडमेर, बीकाने, जोधपुर, असम, नागालैंड, मणिपुर, कश्मीर है। मैं यहां यह नहीं कह रहा हूं कि सीमांतर इलाकों में सक्रिय 'एन.जी.ओ.' और पूंजीवादी व साम्राज्यवादी देशों की रूचि आतंकवादी गतिविधियों में है पर इसकी पूरी जांच होनी चाहिए। भारत सरकार को यह बताना चाहिए कि सीमांतर इलाकों में कार्यरत 'एन.जी.ओ.' में पूंजीवादी व साम्राज्यवादी देशों की रूचि क्यों है, कहीं इनका रिश्ता आतंकवादी गतिविधियों से तो नहीं है। अगर है तो यह देश के लिए काफी हानिकारक है।

'एन.जी.ओ.' को विदेशी फंडिंग हो या नहीं, यह हमेशा विवाद का विषय रहा है। इस पर विरोधाभाषी बयान और विचार लोगों के रहे हैं। अगर कोई संसदीय यह कहता है कि हम बिहार के जहानाबाद और औरंगाबाद आदि जिलों में उग्रवाद को समाप्त करने, वहां पर शांति व्यवस्था कायम करने, भूमि सुधार कार्यक्रम चलाने गरीब और असहाय बच्चों को शिक्षा दिलाने, किसानों को नयी तकनीकी उपलब्ध कराने जैसे काम करना चाहते हैं तो इस काम के लिए विदेशी फंडिंग करने में कोई हर्ज नहीं है। वहीं कोई संस्थान यह कहे कि हमारा यह समुदाय सर्वश्रेष्ठ है, दूसरे समुदाय निम्न श्रेणी के है, हिन्दू-मुस्लिम में फर्क, जैन और सिक्ख को हिन्दू बताने जैसे काम करने वाले संस्थानों को न तो विदेशी फंडिंग होनी चाहिए और न ही देशी। 'एन.जी.ओ.' में राजनीतिक प्रक्रिया को भी प्रभावित करने की अभी शक्ति नहीं है। हां कुछ क्षेत्रों में कार्यरत 'एन.जी.ओ.' धर्म के नाम पर राजनीतिक प्रक्रिया को प्रभावित करने की कोशिश जरूर करते हैं। राष्ट्रीय स्वयं सेवकसंघ के बनवासी कल्याण केन्द्र सहित कई ऐसी संस्थाएं हैं जो व्यापक हिन्दुत्व के नाम पर राजनीतिक प्रक्रिया को प्रभावित करने का प्रयास करती हैं।

इधर भारत सरकार ने 'एन.जी.ओ.' में फँसे भ्रष्टाचार को रोकने के लिए कई कदम भी उठाए हैं। कई 'एन.जी.ओ.' को कालीसूची में डालने के अलावा यह भी प्रावधान कर दिया गया कि बिना चार साल करने वाले 'एन.जी.ओ.' ही विदेशी फंडिंग कर सकते हैं। गृह मंत्रालय ने

विदेशी फंडिंग के लिए एफ.सी.आर. के नियम कानूनों को कड़ा कर दिया गया है लेकिन सिर्फ सरकारी प्रयास से 'एन.जी.ओ.' का भ्रष्टाचार दूर नहीं हो सकता है और न ही उनमें पारदर्शिता आ सकती है। क्योंकि 'एन.जी.ओ.' पर कार्रवाई करने का आखिर में जिम्मेदारी नौकरशाहों पर होती है। नौकरशाह अपने स्वार्थ में आज खुद 'एन.जी.ओ.' बनाकर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से उससे जुड़े हुए हैं। इसलिए इस मामले में राजनीतिक दलों की भूमिका भी रेखंकित होनी चाहिए। जनता को जागरूक होना चाहिए। यह सही है कि गांवों और पिछड़े इलाके की जनता शैक्षणिक रूप से काफी पीछे हैं, उनमें शिक्षा का स्तर काफी कम है, जागरूकता का अभाव है। ऐसी स्थिति में राजनीतिक दलों को जनता को जागरूक बनाने के लिए कोशिश करनी चाहिए। 'एन.जी.ओ.' ठीक काम कर रहा है या नहीं इसकी पूरी परख और भौतिक विश्लेषण सभी राजनीतिक दलों को करनी चाहिए।

'एन.जी.ओ.' के भ्रष्टाचार को रोकने के लिए एक और तरीका यह होना चाहिए कि उसे जनता के प्रति जवाबदेह बनाया जाना चाहिए। कोई ऐसा एक्ट बने या ऐसा प्रावधान हो जो जनता के साथ धोखाधड़ी करने वाले 'एन.जी.ओ.' को दंडित करने का अधिकार जनता को मिले। जिस प्रकार से राजनीतिक दल जनता की आशाओं के ऊपर खरा नहीं उतरने पर जनता का कोपभाजन बनते हैं और अगले चुनाव में उस राजनीतिक दल को जनता हरा देती है इसी प्रकार से 'एन.जी.ओ.' को भी जनता के प्रति जवाबदेह बनाया जाना चाहिए।

सरकार अपनी जिम्मेवारी निभाए तो स्वयंसेवी संस्थाओं की जरूरत ही नहीं

डी. राजा

हम इसे सही मानें या गलत लेकिन सच यह है कि गैर सरकारी संगठन हमारे देश में बड़े पैमाने पर कार्यरत हैं। सरकार, समाज एवं राजनीतिक समूह सभी उनकी उपस्थिति को महसूस कर रहे हैं इसलिए फिलहाल उसकी प्रासंगिकता से ज्यादा उसके बेहतर उपयोग के बारे में विचार करना ज्यादा मौजूं होगा।

संसाधन की दृष्टि से देखें तो हमारे यहां दो तरह के गैर सरकारी संगठन मौजूद हैं। एक वे जो अपना खर्च देश के अंदर से ही चंदा, सरकारी फंड या अन्य श्रोतों से जुटाते हैं और दूसरे वे जो अपनी सक्रियता के लिए विदेशी धनदाताओं पर निर्भर करते हैं। इनमें कुछ संगठन ऐसे हैं जो सचमुच समाज के हित में कुछ काम कर रहे हैं और एक अच्छी खासी संख्या उन संगठनों की भी है जो मात्र नौकरी या धंधे के लिए अपनी दुकान खोलकर बैठ गये हैं। मैं एक बात पूरी तरह स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि विदेशी धन से चलने वाले संगठनों को मैं सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों स्तरों पर गलत मानता हूं।

जब हम किसी को गैर सरकारी संगठन कहते हैं तो उसमें वे सारे संगठन आ जाते हैं जो सरकार से जुड़े नहीं है। इसमें कुछ राजनीतिक समूह भी आ सकते हैं और ट्रेड यूनियन भी। लेकिन प्रचलित अर्थों में हम उन संगठनों को गैर सरकारी संगठन कहते हैं जो गैर राजनीतिक सामाजिक संगठन हैं। हालांकि यह भी कहना उचित नहीं होगा कि उनकी कोई राजनीति नहीं होती। वे भी एक खास तरह की राजनीति करते हैं लेकिन राज करने के लिए नहीं बल्कि जनमानस को प्रभावित करने के लिए। उदाहरण के लिए कोई संगठन किसानों या

महिलाओं के बीच काम कर रहा है तो उसका असर समाज पर पड़ने के साथ-साथ राजनीति पर भी पड़ता है इसलिए उनके साथ हमारा क्या रिश्ता हो सकता है यह इस बात पर निर्भर करता है कि वे अपने कार्यों से किस तरह की राजनीति को विकसित कर रहे हैं। इसलिए मोटे तौर पर उनकी उपादेयता के बारे में हम संगठनवार तरीके से विचार करते हैं। लेकिन हम सीधे-सीधे इन्हें नकारते नहीं हैं और इन्हें बेकार या कूड़ा जैसी उपाधि नहीं देते।

गैर सरकारी संगठनों की उत्पत्ति सरकारी व्यवस्था के नकारेपन की वजह से होती है। अभी भी कई ऐसे मामले हैं जिनमें सरकार जनता की आकांक्षाओं को पूरी नहीं कर पा रही या उन्हें संबोधित ही नहीं करती है। ऐसे में कोई समूह उन मसलों पर काम करने को आगे आ जाते हैं। उदाहरण के लिए शिक्षा को ही लें, सरकार के तमाम प्रयासों के बावजूद हम शिक्षा को सभी लोगों तक नहीं पहुंचा पाये हैं तथा निरक्षरता अभी भी बहुत लोगों की दुर्बलता बनी हुई है। अब ऐसे में अगर कोई गैर सरकारी संगठन लोगों को शिक्षित करने का नारा लेकर सामने आता है तो हम उसे मना नहीं कर सकते। वैसे ही स्वास्थ्य, पर्यावरण और महिलाओं का मामला है जहां सरकारी तंत्र विफल होने लगता है तो गैर सरकारी संगठन वहां अपनी जगह बनाने लगते हैं। स्वास्थ्य के मामले में खासतौर पर कुछ ऐसी बीमारियां हैं जिनकी जिम्मेवारी न तो समाज लेती है, न सरकार। 'कोढ़' इसका अन्यतम उदाहरण है। समाज ऐसे रोगियों को घृणा की दृष्टि से देखता है जबकि सरकार के भारी तंत्र के पास उनकी स्थिति को समझने की संवेदना नहीं होती। इस क्षेत्र में कई गैर सरकारी संगठन सक्रिय हैं और इस मामले में इनकी सकारात्मक भूमिका से इंकार नहीं किया जा सकता। कुछ वैसी ही स्थिति आगे चलकर एड्स के रोगियों की होने वाली है।

झुग्गी-झोपड़ियों पर भी सरकार का ध्यान आसानी से नहीं जाता, हालांकि इनका निर्माण सरकार की गलत नीतियों की वजह से ही होता है। इनके लिए नागरिक सुविधाओं की व्यवस्था करने, राशन कार्ड बनवाने तथा इनके नागरिक अधिकारों को बहाल करने में भी गैर

सरकारी संगठन सक्रिय रहते हैं। दलितों एवं आदिवासियों के बीच भी इनकी सक्रियता ने रचनात्मक आयाम लिये हैं। भूमंडलीकरण और उदारीकरण के बाद गैर सरकारी संगठन इन मुद्दों पर अध्ययन कर रहे हैं कि किस तरह बहुराष्ट्रीय कंपनियां देशी उद्योग-धंधों को खत्म कर रही हैं, किस तरह वे कृषि क्षेत्र को निगलने की तैयारी में लगी हैं, कैसे वे जैव विविधता तथा पर्यावरण को नष्ट कर रही हैं। बड़े बांधों से विस्थापित हुए लोगों के पुनर्वास के लिए भी कुछ संस्थाएं अच्छा काम कर रही हैं। इनमें सुंदरलाल बहुगुणा और मेधा पाटकर जैसे लोगों का नाम लिया जा सकता है। उपर्युक्त गतिविधियों में लगी संस्थाएं राष्ट्र निर्माण की दिशा में अच्छा काम कर रही हैं इसलिए इन्हें खारिज नहीं किया जा सकता।

दूसरी तरफ कुछ ऐसे गैर सरकारी संगठन हैं जो समाज के गैरवर्गीय सामाजिक मुद्दों को उठाकर अनावश्यक टकराव की स्थिति पैदा कर देते हैं। कुछ ऐसी संस्थाएं भी हैं जो अपने आपको गैर राजनीतिक कहती हैं लेकिन दरअसल वे एक खास तरह की राजनीति फैलाती हैं। मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि विदेशी पैसे से चलने वाले अधिकांश संगठन कम्युनिस्टों के खिलाफ काम करते हैं। यही नहीं उनका प्रयास यह भी होता है कि वे जनता में राजनीति और राजनीतिक प्रक्रिया के प्रति अविश्वास पैदा करें। वे संगठित आंदोलनों के प्रति जनता में भ्रम फैलाते हैं और जन भागीदारी के नाम पर उन्हें राजनीतिक संगठनों और संस्थाओं से दूर करने का काम करते हैं। ऐसी संस्थाओं पर गहरी नजर रखनी चाहिए और उनके कार्यकलापों की व्यापक जांच होनी चाहिए क्योंकि वे हमारे लोकतांत्रिक ढांचे पर ही प्रहार कर रहे हैं। इस तरीके से वे गैर सरकारी संगठनों को राजनीति का विकल्प के रूप में पेश करना चाहते हैं। लेकिन अगर इन संगठनों की पड़ताल करें तो पता चलेगा कि वे किसी एक व्यक्ति द्वारा स्थापित की गयी होती हैं तथा उनकी जवाबदेही जनता के प्रति न होकर अपने धनदाता संगठनों के प्रति होती है।

सरकार को इस बात की गहन छानबीन करनी चाहिए कि विदेशों से जो पैसे इन संगठनों को मिल रहे हैं उसका उपयोग वे किस काम के लिए कर रहे हैं। मैं सिर्फ उनकी वित्तीय जांच की बात नहीं कर रहा हूँ बल्कि उनके क्रियाकलाप के बारे में कह रहा हूँ। हालांकि कुछ विदेशी समाजसेवी संस्थाएं विशुद्ध रूप से समाजसेवा के लिए पैसे देती हैं लेकिन यह भी सच है कि कुछ बहुराष्ट्रीय कंपनियां भी अपने निहित उद्देश्यों के लिए गैर सरकारी संगठनों को धन बांटती हैं। इस पर पूरी तरह रोक लगाना जरूरी है।

जहां तक समाजसेवी संगठनों द्वारा विदेशी धन लेने की बात है तो अगर वह समाजसेवा के लिए है तो गलत नहीं है लेकिन राजनीतिक संगठनों द्वारा किसी भी तरह के विदेशी धन की सहायता लेने को मैं गलत मानता हूँ। मेरा मानना है कि राजनीतिक संगठनों को देश के संसाधनों पर निर्भर रहना चाहिए और अगर वे विदेशी धन स्वीकार करेंगे तो अपने उद्देश्यों से भटक जायेंगे। कुछ लोग कम्युनिस्ट पार्टियों पर विदेशी धन लेने का आरोप लगाते हैं जो बिल्कुल बेबुनियाद है। हमने कभी भी किसी विदेशी सरकार या संगठन से पैसा नहीं लिया। जो लोग ऐसा आरोप लगाते हैं वे दरअसल कम्युनिस्टों की खास विचारधारा के कारण उन्हें बदनाम करना चाहते हैं। हमारे पास जो भी धन आता है वह हमारे कार्यकर्ताओं और हमसे सहानुभूति रखने वाले लोगों द्वारा दिये गये चंदे का धन होता है। हम हर वर्ष इसका ब्यौरा आयकर विभाग को भेजते हैं और अभी तक हम पर किसी भी सरकार ने ऊंगली नहीं उठायी है। मीडिया के जो लोग हम पर विदेशी धन लेने का आरोप लगाते हैं वे दरअसल दुराग्रह से प्रेरित हैं और एक खास राजनीतिक उद्देश्य के तहत वे यह कार्य कर रहे हैं। हमारा स्पष्ट मानना है कि राजनीतिक पार्टियों को कोई भी विदेशी धन स्वीकार नहीं करना चाहिए क्योंकि एक तो इससे उनकी सेहत खराब होगी तथा दूसरे उन्हें इस प्रक्रिया में अपने राष्ट्रीय राजनीतिक हितों के साथ समझौता करना पड़ सकता है।

जहां तक गैर सरकारी संगठनों और राजनीति का संबंध है तो मैं उन्हें राजनीतिक प्रक्रिया के समानांतर कोई धारा नहीं मानता और न ही उन्हें थोड़े समय के लिए भी राजनीति के विकल्प के रूप में देखता हूं। लेकिन यह है कि वर्तमान व्यवस्था की खामियों की वजह से इनकी उत्पत्ति होती है। अगर सरकार सामाजिक क्षेत्र की उपेक्षा नहीं करे तो इनकी क्या जरूरत है? अगर सरकार लोगों की नागरिक सुविधाओं, मानवाधिकारों, पर्यावरण दलितों, महिलाओं की समस्याओं को ठीक तरह से संबोधित करे तो इनकी कोई जरूरत नहीं होगी।

लेकिन अभी चूंकि ये संगठन सक्रियता में हैं तो सरकार को इनके बेहतर उपाय का प्रयास करना चाहिए। ऐसा नहीं होना चाहिए कि ये कुकुरमुत्ते की तरह जहां चाहें उग आयें। सरकार को अपनी प्राथमिकता के मुताबिक गैर सरकारी संगठनों को लगाना चाहिए और इस बात पर ध्यान रखना चाहिए कि ये अराजक ढंग से काम न करें बल्कि इनकी पूरी क्षमता को समन्वित तरीके से देश के निर्माण में लगाया जाए। मेरे कहने का मतलब यह है कि गैर सरकारी संगठनों को मिलने वाले पूरे संसाधनों का उपयोग इस तरह होना चाहिए कि पूरे देश को इसका लाभ मिले और कुछ व्यक्तियों या इलाकों तक यह सीमित न रह जाये।

स्वयंसेवी संस्थाएं एवं पफंड जुटाने का मुद्दा

देवेन्द्र शर्मा

अभी तक विभिन्न देशों की सरकारें अलग-अलग मंचों के जरिये अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर एक जगह इकट्ठा होती रही है लेकिन शायद इतिहास में पहली बार दुनिया भर के गैर सरकारी संगठन भी अब एक मंच पर इकट्ठा हुए हैं। ऐसा विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यू.टी.ओ.) और भूमंडलीकरण के नाम पर चल रही जनविरोधी नीतियों के कारण हुआ है। पिछले पांच-सात वर्षों से विश्व व्यापार संगठन ने जो रास्ता अख्तियार किया है उसके खिलाफ हर देश के सामाजिक समूहों की प्रतिक्रिया हुई है। इन्हीं सामाजिक समूहों के एक हिस्से का कहीं न कहीं एन.जी.ओ. या गैर सरकारी संगठन भी प्रतिनिधित्व करते हैं। वैसे तो अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर उनके एकीकरण की प्रक्रिया लंबे अरसे से चल रही थी लेकिन सिएटल की घटना ने उसे अचानक गति प्रदान कर दी। सभी संगठनों को लगा कि प्रभुत्ववादी आर्थिक नीतियों का मुकाबला एक मंच पर ही आकर संभव है और विकल्प की तलाश भी वहीं की जा सकती है। सिएटल में यह दिखा कि पर्यावरण से लेकर ग्रामीण विकास, खेती से लेकर शिक्षा-स्वास्थ्य और यहां तक कि छात्र-मजदूर संघों के बीच काम करने वाले गैर सरकारी संगठन सबके सब एक साथ आवाज उठाने को आतुर थे। देश की सीमाओं से ऊपर उठकर नौजवान, बूढ़े, पुरुष और महिलाएं सभी कंधे से कंधा मिलाकर सड़क पर उतरें। एकजुटता की यह प्रक्रिया शायद आगे और तेज होगी क्योंकि दुनिया भर में वैकल्पिक नीतियों की तलाश का सिलसिला प्रारंभ हो गया है। आर्थिक मुक्ति का एजेंडा सतह पर आ चुका है।

इनमें से अधिकांश गैर सरकारी संगठनों की मान्यता है कि समूचे समाज का विकास जरूरी है न कि कुछ खास तबकों का आर्थिक उन्नयन। यही कारण है कि इन संगठनों ने मिलकर 'वर्ल्ड इकोनॉमिक फोरम' के समानांतर एक 'वर्ल्ड सोशल फोरम' का गठन कर लिया है। अभी हाल में ब्राजील में गठित इस सोशल फोरम ने डावोस सम्मेलन का विरोध किया है। विश्व

बैंक की दादागिरी के खिलाफ आवाज उठायी है और घोषणा की है कि पर्यावरण, खेती और अन्य सभी तरह के सामाजिक प्रश्नों का उत्तर सिर्फ आर्थिक विकास नहीं है। देशों की अपनी राजनीति, संप्रभुता और सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों को आर्थिक तंत्र के दुष्क्र में फंसाकर नहीं रखा जा सकता।

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर एन.जी.ओ. की बढ़ती इस भूमिका को ध्यान में रखते हुए हमें अपने देश के गैर सरकारी संगठनों पर एक दृष्टि डालनी चाहिए। जैव विविधता, खेती और जेनेटिक इंजीनियरिंग के क्षेत्र में सक्रिय कुछ गैर सरकारी संगठनों के काम को करीब से देखने-समझने का मुझे मौका मिला। अधिकांश एन.जी.ओ. देशी-विदेशी फंडिंग के सहारे चलते हैं। जिस विषय पर काम करने के लिए देशी-विदेशी पैसा उपलब्ध रहता है अधिकांश एन.जी.ओ. उसी विषय पर प्रोजेक्ट बनाकर काम करना शुरू कर देते हैं। जैव विविधता के नाम पर पैसा मिल सकता है तो जैव विविधता पर काम होगा और जेनेटिक इंजीनियरिंग के लिए फंड उपलब्ध है तो एन.जी.ओ. का सारा जोर जेनेटिक क्षेत्र के काम पर लग जाएगा। एक जमाना था जब पर्यावरण पर काम करने वाले अधिकांश एन.जी.ओ. गंगा प्रदूषण को दूर करने के अभियान में जुटे थे लेकिन जब गंगा प्रदूषण के नाम पर पैसा मिलना कम या बंद हो गया तो उनमें से अधिकांश जैव विविधता या ग्रीन पीस के आंदोलन में लग गये। पार्को, उद्यानों के रख रखाव की बात करने लगे। अब जब जैव विविधता के प्रोजेक्ट्स के लिए फंडिंग कम होने लगी है तो सबकी नजर खेती और पानी पर काम करने की तरफ जा रही है। इसी तरह जब एड्स के नाम पर विश्व बैंक तथा पश्चिमी मुल्कों से पैसा आने लगा तो अधिकांश गैर सरकारी संगठनों ने एड्स उन्मूलन को अपने कार्यक्रम का हिस्सा बना लिया। यह दुखद है और उतना ही हानिकारक है जितना सरकारी या उदारीकरण की नीतियों को चलाने वाले अपनी मर्जी के मुताबिक विकास का मॉडल जनता पर थोप देते हैं। जब कोई एन.जी.ओ. सिर्फ पैसा प्राप्त करने के लिए एक क्षेत्र से दूसरे और तीसरे क्षेत्र की ओर दौड़ लगाता है तो पता चल जाता है कि उसकी अपनी कोई समझ नहीं है। मुद्दों और विषयों के प्रति उसकी अपनी प्रतिबद्धता नहीं है।

दरअसल, हमारे देश के अधिकांश गैर सरकारी संगठनों को पश्चिम के अमीर देशों से अनुदान मिलता है। पश्चिम के ये देश अपने समाज की जरूरतों के मद्देनजर मुद्दे तय करते हैं। हमें उनके द्वारा तय किये एजेंडे पर काम करना पड़ता है। ठीक उसी तरह जैसे देश की सरकारों द्वारा तय किये गये एजेंडे को लागू करने की जिम्मेदारी सरकारी मुलाजिमों की होती है। वास्तविक जरूरतों और विकास के बुनियादी सरोकारों से इन नीतियों का कुछ लेना-देना न भी हो तब भी मजबूरी में उन नीतियों के क्रियान्वयन से कोई खास रिश्ता नहीं रहता लिहाजा उनको अपनी प्राथमिकताएं बदलने में भी कोई दिक्कत नहीं होती। उनकी सारी चिंता पैसे और फंडिंग के आस-पास घूमती रहती है। यह सही है कि एड्स एक भयंकर बीमारी है। इस बीमारी की रोकथाम के लिए लोगों को सचेत किया जाना चाहिए। लेकिन क्या यह सच नहीं है कि विश्व बैंक द्वारा संचालित एड्स अभियान का मूल मकसद बहुराष्ट्रीय कंपनियों की कीमती दवाओं के लिए बाजार तैयार करना है? अफ्रिकी मुल्कों के बाद एड्स का हौवा भारत में खड़ा किया गया और अब रूस में इसको लेकर हाहाकार मचाया जा रहा है ताकि रूस की बाजार को कब्जे में लिया जाय। अगर यह सच है तो एड्स के कार्यक्रमों को भारत जैसे देश के लिए प्राथमिकता की ऊपरी सीढ़ी पर कैसे रखा जा सकता है? क्या भूख और बेकारी हमारे देश की सबसे बड़ी समस्या नहीं है? क्यों नहीं इसे दूर करने के लिए विदेशी एजेंसियां फंडिंग करती हैं? उनके एजेंडे में यह सवाल प्रमुखता क्यों नहीं हासिल कर पाता? क्योंकि उन मुल्कों में भूख की समस्या नहीं है। वह सोच भी नहीं सकते कि भारत की एक तिहाई आबादी की असल समस्या 'भूख' है। जिस दिन उनके यहां भूख की समस्या खड़ी हो जाएगी उस दिन वे हमारे एन.जी.ओ. को भी भूख के प्रोजेक्ट के लिए फंडिंग शुरू कर देंगे।

एक संस्था है 'ग्रीनपीस'। विश्व की यह एक बड़ी फंडिंग एजेंसी है। इस संस्था ने उद्योगों के जहरीले कूड़े-कचरे के आयात पर रोक लगाने के लिए अभियान चलाने हेतु भारत के गैर सरकारी संगठनों को मदद देनी शुरू की। वो चाहते थे कि विकसित देशों का 'टॉक्सिक वेस्ट' विकासशील देशों में आयात न हो। निश्चित रूप से यह एक महत्वपूर्ण मुद्दा है लेकिन इसका भारत के लिए उतना महत्व नहीं है जितना कि पश्चिम के मुल्कों के लिए है। ग्रीनपीस की

प्राथमिकता वह नहीं है जो हमारे देश की है। इसी तरह 'एक्शन एड' एक दूसरी बड़ी फंडिंग एजेंसी हैं। यह संस्था दुनिया के पैमाने पर खाद्यान्न सुरक्षा, ग्लोबलाइजेशन के दुष्परिणाम और पेटेंट आदि पर काम कर रही है। लेकिन भारत के एन.जी.ओ. को वह इन सारे सवालों पर काम करने के लिए अनुदान नहीं देती। भारत के लिए उसका एजेंडा छूआछूत और विकेंद्रीकरण के ईर्द-गिर्द घूम रहा है। आखिर ये संस्थाएं भारत की प्राथमिकता को ध्यान में क्यों नहीं रखती और नहीं रखती तो फिर हमारे देश के एन.जी.ओ. उनके एजेंडे पर काम क्यों करते हैं? मुझे लगता है कि पैसे को ध्यान में रखकर एजेंडा तैयार करने की प्रवृत्ति गैर सरकारी क्षेत्र के लिए बेहद घातक है। इसे रोका जाना चाहिए।

रही बात जैव विविधता के क्षेत्र में काम करने वाले गैर सरकारी संगठनों की तो यहां मैं एक दिलचस्प तथ्य का जिक्र करना चाहूंगा। जब हमारे मुल्क में हरित क्रांति का दौर आया तो उसी समय दुनिया भर में पौधों की प्रजातियों को संजोकर रखने की एक मुहिम चलायी गयी। कहा गया कि इन प्रजातियों को सुरक्षित नहीं रखा गया तो ये विलुप्त हो जाएंगी और आने वाली पीढ़ी के समक्ष अस्तित्व का संकट खड़ा हो जाएगा। चूंकि तीसरी दुनिया के देशों में भारत एक ऐसा देश है जिसके पास सर्वाधिक जैव विविधता है। उस वक्त हमारी सरकार ने सभी प्रौद्य प्रजातियों को इकट्ठा कर एक जीन बैंक का निर्माण किया। यही काम पाकिस्तान, चीन और अन्य देशों में हुआ। यह सब होने के बाद अमेरिका ने कहा कि इन सभी देशों के जीन बैंकों को मिलाकर दुनिया के स्तर पर एक बड़ा जीन बैंक बनाया जाय। इसकी जिम्मेदारी कंसल्टेटिव ग्रुप ऑन इंटरनेशनल रिसर्च (सी.जी.आई.आर.) को दी गयी। यह ग्रुप दुनिया के 18 कृषि केंद्रों को नियंत्रित करती है। मनीला (फिलीपींस), हैदराबाद (भारत) और मैक्सिको में इसके मुख्य केंद्र हैं। तय हुआ कि सारी पौध प्रजातियों को इन्हीं केंद्रों में रखा जाय। यह बात 30-35 साल पहले की है। उसी दौरान अमेरिका ने कहा कि इन केंद्रों पर ये प्रजातियां सुरक्षित नहीं रह सकती क्योंकि कोई भी आतंकवादी समूह बम के जरिये इन्हें उड़ा सकता है। चूंकि ये प्रजातियां दुनिया के गरीब किसानों की धरोहर हैं लिहाजा इन्हें किसी सुरक्षित स्थान पर ही रखा जाना चाहिए। अमेरिका के कहने पर दुनिया भर की इन प्रजातियों

के 'जर्मप्लाज्म' की कॉपी बनी थी। विश्व की संपूर्ण वनस्पति विविधता अमेरिका के पास पहुंच गयी। उस पर अब किसी एक देश का कब्जा नहीं है और न ही विश्व उसे अपनी धरोहर मान सकेगा। ये सारी प्रजातियां अमेरिका की हो गयी हैं जबकि वह इन प्रजातियों का 'कस्टोडियन' मात्र था। अब उनको पेटेंट कराने की प्रक्रिया चल रही है।

लंबे समय बाद अमेरिका को समझ में आया कि उसके पास पैसा भी है और छह लाख प्रजातियों के 'जर्मप्लाज्म' की कॉपी भी लेकिन उन प्रजातियों के बारे में उसके पास परंपरागत ज्ञान का अभाव है। बिना परंपरागत ज्ञान को इकट्ठा किये इन प्रजातियों का सही इस्तेमाल असंभव होगा लिहाजा अब अमेरिका ने देशज ज्ञान परंपराओं को जानने का अभियान छेड़ दिया है। विश्व बैंक से लेकर यू.एन.डी.पी., अंकटाड और देशी-विदेशी सभी सरकारों ने आज कल इस अभियान को अपने एजेंडे का अंग बना लिया है। सैकड़ों गैर सरकारी संगठनों को परंपरागत ज्ञान इकट्ठा करने के लिए पैसा मिलना शुरू हो गया है। परंपरागत ज्ञान के डाक्यूमेंटेशन का सिलसिला सा चल पड़ा है। और तो और हमारी केंद्र सरकार भी इस मुहिम में जुट गयी है। योजना आयोग से लेकर सी.एस.आई.आर. और आई.सी.आर. जैसी संस्थाएं भी इस काम के लिए भारी धनराशि दे रही हैं। इस पूरे मुहिम का परिणाम यह होगा कि दुनिया भर का परंपरागत ज्ञान धीरे-धीरे अमेरिका के हवाले हो जाएगा और वह उन छह लाख प्रजातियों के उपयोग का रहस्य समझने के बाद एक नये तरह के बाजार पर अपना एकछत्र प्रभुत्व कायम कर लेगा। बहुराष्ट्रीय कंपनियां उन पौध प्रजातियों के अंदर मौजूद तत्वों की शिनाख्त कर मार्केटिंग शुरू कर देंगी और धीरे-धीरे जो पौधे गरीब किसानों की धरोहर थे उन पर इन कंपनियों का मालिकाना हक हो जाएगा। मुझे नहीं मालूम कि देशज ज्ञान परंपरा के डाक्यूमेंटेशन में लगे एन.जी.ओ. और हमारी सरकारी एजेंसियां इस तथ्य से वाकिफ हैं या नहीं। अगर हैं तो वे इस खतरे का मुकाबला कैसे करेंगी? यहां पर भी वही बात लागू होती है कि एन.जी.ओ. अपने एजेंडे पर नहीं बल्कि देशी-विदेशी फंडिंग एजेंसियों द्वारा निर्धारित एजेंडे पर ही सक्रिय रहते हैं। परंपरागत ज्ञान को इकट्ठा कर उसका डाक्यूमेंटेशन करना गलत नहीं

है लेकिन हमारा वह समूचा ज्ञान किसी विदेशी फंडिंग एजेंसी की धरोहर बन जाय इसकी इजाजत कतई नहीं दी जा सकती। यह देशहित के खिलाफ है।

गैर सरकारी संगठनों को यह बात बुरी लग सकती है लेकिन सचाई यही है कि अधिकांश एन.जी.ओ. के पास स्पष्ट दृष्टि नहीं है। उनकी सामाजिक और राष्ट्रीय प्रतिबद्धता में भी ह्रास हुआ है। वे अपनी सारी गतिविधियां पैसे को ध्यान में रखकर संचालित करते हैं। जब मैं यह सवाल उठाता हूं तो अक्सर तर्क दिया जाता है कि कोई भी काम बिना पैसे के कैसे हो सकता है? यह तर्क ही बुनियादी तौर पर गलत है। लगन, निष्ठा और मुद्दों के प्रति प्रतिबद्धता हो तो कोई भी काम शुरू किया जा सकता है। ऐसे ढेर सारे लोग हैं जो बिना विदेशी अनुदान लिए सामाजिक कार्य करते रहे हैं। धीरे-धीरे उनका नाम हुआ और उन्हें विदेशी अनुदान भी मिलने लगा। अगर लियाकत होगी और जमीन से जुड़े जरूरी सवालों के प्रति प्रतिबद्धता होगी तो फंडिंग एजेंसियों को अपने एजेंडे पर पैसा देने के लिए बाध्य किया जा सकता है। ऐसा करके ही गैर सरकारी संगठनों के लोग देशी-विदेशी सरकारी निकायों से अपनी अलग पहचान बना सकते हैं और समाज सेवा के प्रति अपेक्षाकृत स्थायी दृष्टिकोण विकसित कर सकते हैं।

गैर सरकारी क्षेत्र को लेकर व्यक्त किये गये मेरे इन विचारों का अर्थ यह कतई नहीं है कि इस क्षेत्र में सूझ-बूझ, ईमानदार और देशहित से जुड़े प्रश्नों पर काम करने वाले लोग हैं ही नहीं, लेकिन उनकी संख्या हाल के दिनों में कम हुई है। इसीलिए एन.जी.ओ. के बारे में लोगों के मन में खराब धारणा बनी है। बावजूद इसके आज भी किसी सरकारी एजेंसी की तुलना में इस क्षेत्र में निष्ठा और ईमानदारी ज्यादा है। क्रियान्वयन की दृष्टि से भी यह क्षेत्र कई सरकारी महकमों से ज्यादा कारगर है। जो कमियां हैं उनको लेकर खुद गैर सरकारी क्षेत्र के कर्ताधर्ताओं में भी बहस चल रही है। एक अच्छे नेटवर्किंग का प्रयास शुरू हुआ है। इसीलिए लगता है कि भारत में भी इस क्षेत्र की भूमिका बढ़ेगी।

गैर सरकारी संगठनों के बीच परस्पर अंतर्राष्ट्रीय नेटवर्किंग का सबसे ज्यादा फायदा शोध अध्ययन एवं विकास (रिसर्च एंड डेवलपमेंट) क्षेत्र को हुआ है। इसका सारा श्रेय सूचना प्रौद्योगिकी और इंटरनेट तकनीक को जाता है। दुनिया भर में किस मुद्दे पर क्या काम हो रहा है इस जानकारी का आदान-प्रदान गैर सरकारी संगठनों के बीच अब सेकेंड में हो जाता है। इससे शोध अध्ययनों पर व्यय होने वाली धनराशि की भी बड़े पैमाने पर बचत हुई है। इसे नॉन मोनेटरी इंटरनेशनल सालिडैरिटी का कमाल कहा जा सकता है। इसको लेकर बहुराष्ट्रीय कंपनियों के कान खड़े हो गये हैं। कई मौकों पर शोध अध्ययनों के एक जुट प्रयासों से इन कंपनियों के इरादे ध्वस्त हुए हैं। निवेश पर बहुपक्षीय समझौतों (मल्टीलेटरल एग्रीमेंट ऑन इंवेस्टमेंट) के समय एन.जी.ओ. क्षेत्र की इस अंतर्राष्ट्रीय नेटवर्किंग ने ही कमाल दिखाया। विश्व व्यापार संगठन ने लगभग यह तय कर लिया था कि बहुराष्ट्रीय कंपनियों को किसी भी देश में निवेश करने पर वही अधिकार प्राप्त हों जो उस कंपनी को अपने मूल देश में मिले हुए हैं। यह समझौता राष्ट्रों की संप्रभुता के विरुद्ध था। एन.जी.ओ. ने इंटरनेट के जरिये दुनिया भर में इस समझौते के दुष्परिणामों को प्रसारित कर दिया। नतीजतन मजबूर होकर डब्ल्यू.टी.ओ. को इसे वापस लेना पड़ा। एन.जी.ओ. की नेटवर्किंग व्यवस्था न होती तो शायद यह समझौता लागू हो गया होता। इसी तरह मैं अपने अनुभवों के आधार पर कह सकता हूँ कि ऐसे ढेरों सवाल हैं जिनकी जानकारी हमें किसी दूसरे देश के एन.जी.ओ. द्वारा इंटरनेट पर जारी दस्तावेजों से मिलती है। यहां तक कि कई बार अपने देश में जो हो रहा है या होने वाला है वे तथ्य भी हमें बाहर से प्राप्त होते हैं। मसलन, मोवाहन ग्रोथ हारमोन के पूरे प्रकरण का भंडाफोड़ इंटरनेट के जरिये विदेशी एन.जी.ओ. से मिली जानकारियों के कारण हुआ। यह जेनेटिक इंजीनियरिंग का मामला था। एक अमेरिकी बहुराष्ट्रीय कंपनी ने गाय के लिए एक ऐसा इंजेक्शन तैयार किया था जिसको लगाने के बाद गाय के स्वाभाविक दूध में 15 प्रतिशत की वृद्धि हो जाती है। अमेरिका में यह इंजेक्शन खूब प्रचलित है लेकिन यूरोप में प्रतिबंधित है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने इसे भारत में ले आने की अनुमति प्राप्त कर ली थी। इंटरनेट से जब हमें एक कनाडा के वैज्ञानिक का शोध पत्र मिला कि इस इंजेक्शन के कारण बढ़ा हुआ दूध कैंसर की बीमारी बढ़ाता है तो हमने इस पर हल्ला मचाया और भारत सरकार को अपनी रिपोर्ट दी। मंजूरी देने के बाद भी सरकार को निर्णय बदलना पड़ा और भारत में भी उस

इंजेक्शन पर प्रतिबंध लगा। खेती और विश्व व्यापार संगठन की तमाम पेचीदगियों को समझने में भी इंटरनेशनल नेटवर्किंग से जबर्दस्त मदद मिल रही है। इंटरनेट की तकनीक के चलते धन और समय का अपव्यय रूक सा गया है। बायो-पायरेसी और पेटेंट की चोरबाजारियों का भी पर्दाफाश हुआ है। बासमती प्रकरण को लेकर उठा सारा विवाद विदेशी अध्ययनों से प्राप्त जानकारियों के कारण हुआ जिसमें भारत की जीत हुई।

दरअसल, सरकारों के गोपनीयता-कानून मूल समस्या है। सरकार हर चीज छिपाती है जबकि वहीं चीज पश्चिमी देशों के शोधकर्ताओं को आसानी से उपलब्ध हो जाती है और वह जानकारी हमारे देश तक पहुंच जाती है। नॉन मोनेटरी इंटरनेशनल सालिडैरिटी के क्षेत्र में आगे और भी तेजी से काम होगा। सूचीबद्ध जानकारियां भी अब इंटरनेट पर उपलब्ध हैं। भारत के बारे में सरकारी सूचनाओं से ज्यादा जानकारियां डब्ल्यू.टी.ओ. या किसी दूसरी अंतर्राष्ट्रीय एजेंसी की वेबसाइट पर उपलब्ध हैं। एक वाक्य में कहूं तो शोध और विश्लेषण के क्षेत्र में किसी स्वयंसेवी संगठन को काम करने के लिए इंटरनेट ने असीम संभावनाओं का द्वार खोल दिया है। लेकिन सवाल वही है कि आप किस मुद्दे पर शोध अध्ययन करना चाहते हैं और आप में मुद्दों की प्राथमिकता तथा प्रतिबद्धता की कितनी समझ है? कहीं शोध अध्ययन का यह सिलसिला भी फंडिंग एजेंसियों के एजेंडे को ही आगे बढ़ाने के लिए तो नहीं है। इस पर पर्याप्त सचेत रहने की जरूरत है। जिस तरह अधिकांश गैर सरकारी संगठन पैसे को ध्यान में रखकर ग्रासरूट की योजनाओं को तैयार करते हैं उसी तरह यदि शोध और विश्लेषण करने वाले भी वही करने लगे तो फिर सामाजिक हित दरकिनार हो जाएंगे और समूचा स्वयंसेवी क्षेत्र गलत रास्ते पर चला जाएगा। गैर सरकारी क्षेत्र के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती यही है कि फंडिंग ड्रीवेन (कोष को ध्यान में रखकर, प्रोजेक्ट बनाना) एजेंडे से कैसे मुक्त हुआ जाय। मुद्दों की प्राथमिकता तय की जाय और देश की जरूरतों को ध्यान में रखकर जमीनी यथार्थ की पहचान की जाय। निश्चित रूप से अपनी काहिली और नाकामी के कारण सरकारों के लिए समाज में जगह घटेगी। इस जगह को निजी क्षेत्र भरने का पूरा प्रयास करेगा और समाज को

बाजार बनाएगा। इससे लड़ने की जिम्मेदारी अंततः नागरिक समाज को ही उठानी पड़ेगी।
क्या इस भूमिका में उतरने के लिए गैर सरकारी क्षेत्र तैयार है? यही सबसे बड़ा यक्ष प्रश्न है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

देवेन्द्र स्वरूप

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ भारत का सबसे बड़ा स्वयंसेवी प्रयास है। यह गैर सरकारी संगठन अपने जीवन का पचहत्तर साल पूरा कर चुका है। संघ आज भी देश के हजारों नवयुवकों को आकर्षित कर रहा है, उन्हें संस्कारित कर रहा है। प्रतिवर्ष गर्मी की छुट्टियों के दौरान देश भर में संघ के शिक्षा वर्ग लगते हैं। इस शिक्षा वर्ग के अंतर्गत तकरीबन तीस हजार से ज्यादा लोग भाग लेते हैं। इस वर्ग में आने-जाने, रहने, भोजन आदि पर किया जाने वाला समूचा व्यय प्रत्येक सहभागी खुद वहन करता है। इन वर्गों में भाग लेने वाले सहभागियों को प्रातः पांच बजे से रात्रि के दस बजे तक कठोर दिनचर्या से गुजरना पड़ता है। वहां पर भोजन का स्तर बहुत सामान्य होता है।

अब यह सवाल उठता है कि संघ पूरी तरह विपरीत और प्रतिकूल प्रचार के बावजूद पचहत्तर साल से देश के अंदर लोगों को अनुप्रमाणित क्यों और कैसे कर पा रहा है। इसके पीछे संघ का एक अनुभूत सिद्धांत है कि चरित्र निर्माण शब्दों से नहीं आचरण से होता है। और आचरण की छाप संपर्क से पड़ती है। इसीलिए संघ में एक उदाहरण दिया जाता है कि चरित्र निर्माण ईंटों को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने जैसा काम नहीं है बल्कि विद्युत प्रवाह की तरह संपर्क से उसको प्रवाहित करना पड़ता है। यदि संघ पचहत्तर साल के बाद भी उच्च शिक्षा प्राप्त अनेक लोगों को घर बार छोड़कर समाज कार्य के लिए प्रेरणा देने में समर्थ है तो इसका मतलब है कि संघ के अंदर कहीं न कहीं उर्जा स्रोत उसके भीतर ही विद्यमान है। और वह उर्जा स्रोत उसके वरिष्ठ कार्यकर्ताओं के अपने जीवन और आचरण में खोजा जाना चाहिए।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ 1925 में प्रारंभ हुआ। डा. हेडगेवार का नागपुर के सार्वजनिक जीवन में अच्छा स्थान था। वह प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य थे। 1923 में हिन्दू महासभा बनी थी। डा. हेडगेवार उसके भी प्रांतीय मंत्री थे। 1920 के नागपुर अधिवेशन में वह स्वयंसेवक दल के प्रमुख थे। लेकिन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की नींव रखने के बाद उन्होंने अपने को सार्वजनिक जीवन से पूरी तरह अलग कर लिया। समाचार पत्रों से संबंध विच्छेद कर लिया और संघ के किशोर स्वयंसेवकों में उन्होंने अपनी देशभक्ति और आदर्शवादिता को प्रवाहित किया। इसीलिए डा. हेडगेवार को संघ वृक्ष का बीज कहा जाता है। उन्होंने अपने संपर्कों के द्वारा किशोरों को एक आदर्शवादी कार्यकर्ता के रूप में ढाला। ये लोग नागपुर छोड़कर दूसरी जगह गये। वहां पर उन्होंने अपने को बीज की तरह बोया। लोगों को अपने सम्पर्क से अनुप्रमाणित किया। वस्तुतः संघ का कार्य शब्दों से नहीं आचरण के द्वारा एक जगह से दूसरी जगह पहुंचा। संघ के विस्तार की यही प्रक्रिया रही है।

डा. हेडगेवार ने एक वाक्य दिया—

वृत्त पत्र में नाम छपेगा, पहनूंगा स्वागत सप्रहार।

छोड़ चलो ये क्षुद्र भावना हिन्दू राष्ट्र के तारणदार।।

इसका मतलब यह है कि हमें प्रचार नहीं समाज सेवा करना है। उसके बदले में यश नहीं चाहिए। डा. हेडगेवार ने एक बहुत बड़ी चीज संघ के कार्य पद्धति के अंदर अपनायी। वह यह है कि संघ कार्य को चलाने के लिए बाहर से चंदा नहीं लेना है। समाज से भी नहीं लेना है। उन्होंने संघ के अंदर गुरु दक्षिणा की परंपरा आरंभ की। भग्वा ध्वज को गुरु माना। वर्ष में एक बार भग्वा ध्वज के सामने संघ के स्वयंसेवकों द्वारा अपनी सामर्थ्य के अनुसार अपने खर्च में से बचाकर धनराशि समर्पित करने की परंपरा अपनायी गयी। उसी से संघ का कार्य चला। आज भी वही परंपरा है संघ के स्वयंसेवक संघ कार्य के लिए प्राकृतिक आपदाओं के लिए चंदा मांगते हैं। संघ कार्य के लिए स्वयंसेवक किसी से एक पैसा भी नहीं लेता। इसके चलते समाज कार्य करने का एक मानस तैयार हुआ। डा. हेडगेवार ने संस्कारों की जो पद्धति विकसित की उसके कारण संघ में आज भी आदर्शवाद का एक प्रवाह बह रहा है।

यह बात सत्य है कि आज समाज का वातावरण भी बहुत बदला है। इस संघ कार्य में कहीं-कहीं शिथिलता जरूर आयी होगी। पर आज भी संघ कार्यालय में कोई जाकर देखे कि वहां भोजन का स्तर कितना सामान्य है। सर संघ चालक भी सामान्य लोगों की तरह स्वयंसेवकों के साथ बैठकर भोजन किया करते हैं। व्यवहार और संपर्कों की पारदर्शिता के अंतर्गत लोग साथ-साथ रहते हैं। आज भारतीय समाज का सबसे बड़ा संकट यह है कि शब्द तो बड़े-बड़े बोले जा रहे हैं पर आचरण में वह शब्द प्रतिबिम्बित नहीं हो रहे हैं। हमारे आश्रमों की यही स्थिति हो गयी है। वहां की जीवन शैली भक्तों के अंदर आदर्श, निष्ठा पैदा नहीं कर पा रहे हैं। आश्रमों में शब्द और भाषा आध्यात्मिक है पर जीवन आध्यात्मिक नहीं है।

इसलिए हम देखते हैं कि महाराष्ट्र में स्वाध्याय का जो प्रयास चल रहा है वह अनेक दृष्टि से अनुकरणीय है। स्वाध्याय की विशेषता है कि उसने एक पैसा भी कभी किसी से चंदा नहीं लिया। स्वाध्याय के अंदर अविवाहित प्रचारक पद्धति भी नहीं है। पांडुरंग शास्त्री आठवले से लेकर नीचे तक सभी कार्यकर्ता सामान्य गृहस्थ है। पांडुरंग ने एक परंपरा चलायी है 'नो टिकट, नो टिफिन'। स्वाध्याय आंदोलन समाज के कमजोर वर्गों में सुविधाएं नहीं साधन वितरित करने में विश्वास रखता है। स्वाध्याय का समाज कार्य मछुआरों, बाल्मिकियों और सांसियों के बीच है। मछुआरों को सागर पुत्र, सांसियों को देवी पुत्र और बाल्मिकियों को भाव लक्ष्मी कहा जाता है। स्वाध्याय आंदोलन ने इनमें आत्मविश्वास और सम्मान का भाव पैदा किया है। स्वाध्याय की पूरी कार्यपद्धति भक्ति पर आधारित है। शुरू में ये आध्यात्मिक बातें करते हैं बाद में सामाजिक कार्य करते हैं। स्वाध्याय न जो दर्शन विकसित किया है वह अपने देश की मिट्टी से पैदा हुआ है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से भी स्वाध्याय एक कदम आगे है। संघ जो समाज कार्य कर रहा है उसमें वह स्वाध्याय का अनुकरण नहीं कर पाया है। इसमें संघ पीछे है।

आज संघ सत्ता और सेवा के द्वन्द्व से गुजर रहा है। यह द्वन्द्व पहली बार पैदा नहीं हुआ है। कांग्रेस के अंदर भी था। गांधी और नेहरू के बीच 1945 के अक्टूबर में हुए पत्राचार में यह द्वन्द्व विद्यमान है। इसलिए आज संघ के सामने जो द्वन्द्व खड़ा है यह उसी द्वन्द्व का विस्तार है। वास्तव में भारतीय जीवन मूल्य और नयी औद्योगिक सभ्यता के बीच जो द्वन्द्व और टकराव है उसी से संघ का द्वन्द्व भी पैदा हुआ है। संघ का मूल चिंतन गांधीवादी चिंतन का विस्तार है। ऐसा इसलिए कि स्वदेशी का प्रस्ताव, स्वदेशी का आग्रह संघ ने अपने जीवन के प्रारंभ से किया है। पूरे स्वतंत्रता आंदोलन की यह प्रेरणा थी। लेकिन लोकतंत्र के अंदर जो सरकारें बनती हैं वे समाज की ओर देखती हैं और समाज के अंदर आज जिस सुविधापूर्ण जीवन शैली की भूख पैदा हुई है उसके कारण सरकार उस रास्ते की ओर बढ़ रही है। उदाहरण के लिए आज सभी लोग अपने घरों में बिजली चाहते हैं। इस व्यवस्था को तीव्र करने के लिए हर पार्टी की सरकार विदेशी कंपनियों को उर्जा क्षेत्र में आमंत्रित कर रही है क्योंकि यह समाज की मांग है।

वास्तव में 20वीं शताब्दी में हमारे समाज में स्वयंसेवी कार्य की जो परंपरा प्रारंभ हुई उसके प्रारंभकर्ता महात्मा गांधी थे। महात्मा गांधी ने रचनात्मक कार्य की जो रूप रेखा प्रस्तुत की उसके द्वारा उन्होंने शहरी कार्यकर्ताओं को देहातों में जाकर काम करने के लिए प्रेरित किया। स्व-प्रेरणा से समाज कार्य करने वाले ये कार्यकर्ता वेतनभोगी नहीं होते थे। इसी तरह संघ में जो पूर्णकालिक कार्यकर्ता होता है वह वेतन भोगी नहीं होता। उनका खर्च बहुत कम होता है। 1947 तक देश में संघ का कोई कार्यालय नहीं था। संघ के स्वयंसेवक दूसरों के घरों में ठहरते और भोजन करते थे। स्वयंसेवक समाज पर अवलंबित थे। समाज उन पर अवलंबित नहीं था। गांधी जी ने जो रचनात्मक कार्य किया उसमें से धीरेन्द्र मजुमदार, विनाव भावे जैसा कार्यकर्ता पैदा हुए। ये लोग निस्वार्थ भाव में समाज से कोई अपेक्षा किये बगैर उनके बीच कार्य किया करते थे। उनके कार्य का उद्देश्य समाज के कमजोर से कमजोर आदमी के मन के अंदर स्वावलंबन और आत्मविश्वास का भाव पैदा करना था।

लेकिन आजादी के बाद स्वयंसेवी प्रयास का चरित्र बदला है। इसकी वजह यह है कि गांधी जी ने जो रचनात्मक कार्य प्रारंभ किया उसे सरकारी संरक्षण प्राप्त होना शुरू हो गया। सरकारी समर्थन प्राप्त होने के चलते यह स्थिति पैदा हुई कि प्रारंभिक कार्यकर्ता तो आदर्शवादी थे पर इस तरह की दूसरी पंक्ति तैयार नहीं हुई। दूसरी पंक्ति के कार्यकर्ता वेतनभोगी होने लगे। आज दुर्भाग्य से गैर सरकारी संगठनों का जो स्वरूप विकसित हुआ वह यह है कि ये संस्थाएं फंड जुटाती हैं और किसी क्षेत्र में जाकर वहां उड़ेलती हैं, यानी 'लाभ देने वाले' और 'लाभ लेने वाले' दो श्रेणियों का निर्माण हो रहा है। इसका मतलब यह हुआ कि गैर सरकारी संगठन मिशन न होकर प्रोफेसन बन गये हैं। इससे क्षेत्र के लोगों के व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता। उनके अंदर स्वावलंबन और आत्म विश्वास का भाव पैदा नहीं होता। उनके अंदर परावलंबन का भाव पैदा होता है। आगे चलकर वे उसको अपना अधिकार समझने लगते हैं। वे अपेक्षा करने लगते हैं कि जो समाजसेवी आएगा कुछ लेकर ही आएगा।

आज गैर सरकारी संगठनों की दृष्टि फंड पर रहती है। यहां मैं अपना एक व्यक्तिगत उदाहरण देना चाहता हूं। राष्ट्रीय सेवा योजना के तहत मुझे करीब छह वर्ष तक दिल्ली के एक पुनर्वास बस्ती में काम करने का मौका मिला। राष्ट्रीय सेवा योजना का उद्देश्य कॉलेज के छात्रों में समाज सेवा का भाव पैदा करना था। हमने अपने कॉलेज के छात्रों को लेकर दिल्ली के वजीरपुर डीपो के पास स्थित शकुरपुर बस्ती में 1976 से 1982 तक काम किया। हमने अनुभव किया कि युवा पीढ़ी के अंदर बहुत प्रबल आदर्शवादी चेतना विद्यमान है। हमने छात्रों के साथ मिलकर उस बस्ती में उप प्रकल्प चलाये। बच्चों और महिलाओं पर हमने ध्यान केंद्रित किया। कुछ छात्रों ने दवाखाना खोलकर गरीबों की सेवा शुरू की। अपने प्रकल्पों को चलाने के लिए हमें भवन की आवश्यकता थी। भवन की खोज के दौरान पता चला कि कांग्रेसी सांसदों की कुछ पत्नियां 'वूमेंस म्युच्युल एड सोसाइटी' के नाम से एक गैर सरकारी संगठन चलाती है। हरि किशोर सिंह की पत्नी प्रतिमा सिंह संस्था की चेयरपरसन और केरल से चुनकर आये माकपा के सांसद कोरियन की पत्नी सचिव थी। यह संस्था प्रौढ़ शिक्षा का

काम करती थी पर व्यवहार में कभी कभार ही प्रौढ़ शिक्षा की कक्षाएं लगाती थीं। संस्था की ओर से कुछ शिक्षक और सुपरवाइजर रखे गये थे जिनको पैसा दिया जाता था। कहा जा सकता है कि यह संस्था केवल कागज पर चल रही थी। इसे सरकार से प्रौढ़ शिक्षा का अनुदान मिला करता था। कांग्रेस के नेता सज्जन कुमार भी प्रौढ़ शिक्षा के 12 केंद्र चलाते थे पर किसी भी केंद्र में नियमित कक्षाएं नहीं लगती थी।

कुछ गैर सरकारी संगठनों को विदेशों से भी पैसा मिलता है विदेशी फंडिंग ने समूची स्वयंसेवी संस्था के चरित्र को बदल दिया है यही वजह है कि अनेक गैर सरकारी संगठनों को काली सूची में डाल दिया गया है। आज सरकार भी विदेशी ऋण ले रही है। विदेशी ऋण को समर्थन देने वाले लोगों की सोच से मैं सहमत नहीं हूँ। विदेशी ऋण से विकास देश के लिए स्वस्थ सिद्ध नहीं हो रहा है। वास्तव में गैर सरकारी संगठनों का यह दायित्व है कि वह समाज को इस तरह के विकास के रास्ते से हटाकर उस रास्ते पर चलाने की कोशिश करे जिसके अंदर सादगी, स्वावलंबन, और आत्म निर्भरता का भाव प्रबल हो। एक बार गैर सरकारी संगठनों को यह संकल्प लेना ही पड़ेगा कि बीस साल तक किसी तरह का सरकारी ऋण और विदेशी अनुदान नहीं लेंगे। और वेतनभोगी कार्यकर्ता के जरिये गैर सरकारी संगठन नहीं चलाएंगे। स्वयंसेवी क्षेत्र को अपना आदर्श खड़ा करना होगा। आज गैर सरकारी संगठनों के बैलेंस शीट का अध्ययन करके देखा जाय तो पता चलेगा कि उनका कितना हिस्सा इंफ्रास्ट्रक्चर, इस्टेबलिशमेंट और प्रचार पर खर्च होता है और वास्तव में कितना पैसा उस क्षेत्र के विकास पर खर्च होता है। गांधी जी ने आश्रम पद्धति का विकास किया था। सामाजिक कार्यकर्ता आश्रम से ही पैदा हुआ। यह देश दुष्चक्र में फंस गया है इसमें से निकालने की जिम्मेदारी गैर सरकारी संगठनों की ही है। फंडिंग से नाता तोड़ना होगा।

स्वयंसेवी संगठन एवं विदेशी फंडिंग

दीपंकर भट्टाचार्य

गैर सरकारी संगठनों का विकास समाज की स्वाभाविक प्रक्रिया में हुआ है इसलिए पहले से ही इस पर कोई शक या शंका जैसी धारणा बना लेना उचित नहीं है। इसके उद्भव एवं विकास में कई तरह के कारक शामिल रहे हैं जिनकी विवेचना आवश्यक है। अगर मोटे तौर पर देखें तो लोगों के पास पहले की तुलना में सूचनाओं एवं जानकारियों का प्रवाह बढ़ा है और लोग छोटे-छोटे तथा स्थानीय सवालों के प्रति सचेत हुए हैं। इसके साथ ही लोगों में पर्यावरण विकास स्वास्थ्य जैसी चीजों के प्रति जागरूकता भी बढ़ी है।

गौर से ध्यान देने पर पता चलता है कि गैर सरकारी संगठन उन्हीं सवालों पर सक्रिय हुए हैं जो राजनीति द्वारा छूट गये हैं या उपेक्षित रहे हैं। जिन मामलों को राजनीति या व्यवस्था से जुड़ा छोटा मामला मानती रही हैं उन मामलों को एक समग्र मुद्दा मानकर गैर सरकारी संगठनों ने अपने कार्यक्षेत्र में विस्तार किया है। भारत से लेकर यूरोप और अमरीका तक यही स्थिति रही है। पूर्वी यूरोप में कम्युनिस्ट पार्टियां अपने आंदोलन के दायरे में इन सवालों को नहीं ला सकीं। इसलिए बाद में वहां सत्ता परिवर्तन के बाद गैर सरकारी संगठनों का तेजी से विकास हुआ। यूरोप और अमरीका में राजनीति चूंकि दो ध्रुवीय रही और उनके पास विचार के लिए हमेशा बड़े मुद्दे बने रहे इसलिए वहां भी समानांतर धारा के रूप में गैर संगठन पनपे और उन्होंने सूक्ष्म सामाजिक मानवीय मुद्दों को संबोधित करना शुरू किया। तकरीबन इसी तरह भारत जैसे विकासशील देशों में भी इनका विकास हुआ जो सचेत तो काफी थे लेकिन उनकी राजनीति काफी स्थूल सवालों पर कार्य करती रहीं। इस लिहाज में देखें तो राजनीति की कुछ अनियमितताओं, छोटे-छोटे स्थानीय मुद्दों के प्रति संवेदना की कमी तथा सामाजिक तौर पर आवश्यक जरूरतों को हल करने में विफलता के कारण एक सकारात्मक प्रवृत्ति के रूप में गैर सरकारी संगठनों का विकास हुआ।

विचारधारात्मक रूप से देखें तो इनकी सक्रियता सुधारवाद के रूप में रही और कुछ कर्मों में इन्हें अराजकतावादी भी कहा जा सकता है। उनकी सक्रियता मूलतः एक खास मुद्दे पर केंद्रित रहती है और वे उसके संकीर्ण दायरे से न तो बाहर आने की सोचते हैं, न उन्हें व्यापक व्यवस्थागत सवालों के साथ उसे जोड़ते हैं। इनका कोई विश्व दृष्टिकोण नहीं होता और समग्रता में सामाजिक बदलाव का वे कोई प्रयास नहीं करते। उत्तर आधुनिकता के सिद्धांत ने उनको सैद्धांतिक जामा पहनाया है हालांकि सभी गैर सरकारी संगठनों के लोग उसे मानते ही हों जरूरी नहीं है लेकिन अवचेतन में वे इसी विचार पर चल रहे हैं। उदाहरण के लिए अगर कोई बच्चों पर संगठन बनाये हुए है तो उसे बच्चों के अलावा और किसी बात से मतलब नहीं होता। अपनी इस संकीर्णता की वजह से वे पूंजीवाद के दायरे में फंसे रहते हैं और समाजवाद की तरफ नहीं सोच पाते। उनकी इसी कूपमंडूकता का फायदा साम्राज्यवादी देश उठाने का प्रयास करते हैं और धन देकर या किसी और तरीके से उनका रूख अपने समर्थन में मोड़ने का प्रयास करते हैं। वे उन्हें राष्ट्र राज्यों की सरकारों के समानांतर एक व्यवस्था के रूप में खड़ा करने का प्रयास करते हैं। मेरे कहने का मतलब यह नहीं है कि सारे गैर सरकारी संगठन उनकी इस साजिश में शामिल हैं, बल्कि यह कहना उचित होगा कि साम्राज्यवाद उनके सीमित दृष्टिकोण का अक्सर लाभ उठा लेता है।

गैर सरकारी संगठनों पर फिलहाल दो तरह की प्रवृत्तियां हावी हैं। एक वे हैं जो सरकार के समर्थन में रहते हैं और दूसरे वे जो सरकार विरोधी हैं। जो संगठन सरकार विरोधी हैं वे बहुधा अंतर्राष्ट्रीय धनदाता संगठनों के विचारों के समर्थक बन जाते हैं। इन दोनों धाराओं के संगठनों में स्वतंत्र दृष्टिकोण विकसित नहीं हो पाता है।

गैर सरकारी संगठनों को आजकल राज्य और नागरिकों के बीच का समन्वयकारी तत्व माना जाता है लेकिन आमतौर पर यही माना जाता रहा है कि यह काम राजनीतिक पार्टियों द्वारा अभिव्यक्त होना चाहिए। चूंकि बड़ी राजनीतिक पार्टियां अब बड़े पूंजीपतियों के हाथों में खेल

रही हैं आम लोगों के साथ उनका जीवंत रिश्ता समाप्त होता जा रहा है। इसलिए गैर सरकारी संगठनों ने स्थानीय जनता और समस्याओं से जुड़कर काम करना शुरू कर दिया है। यह दरअसल राजनीतिक पार्टियों की विफलता का परिचायक है।

इधर के दिनों में गैर सरकारी संगठनों के भी बड़े नेटवर्क बन गये हैं और उनके पास भी काफी पूंजी आने लगी है। इसके अलावा वे व्यक्ति केंद्रित संगठन बनकर रह गये हैं जहां आंतरिक लोकतंत्र का अभाव साफ-साफ दिखता है। उनकी प्रतिबद्धता समाप्त होने लगी है। और वे पेशेवर लोगों की निजी कंपनियों की तरह काम करने लगे हैं। इसकी वजह से उनकी जिम्मेवारी जनता के प्रति न होकर धनदाता संगठनों के प्रति हो गयी है और वे नीचे तक पूंजीवादी व्यवस्था का भ्रम या विचार पहुंचाने में लग गये हैं।

जहां तक पैसा देने वाले अंतर्राष्ट्रीय संगठनों का सवाल है तो यह बात सही है कि दुनिया में बहुत सारे ऐसे लोग हैं जो गरीब या पिछड़े लोगों के लिए पैसे देते हैं। मार्क्स ने भी इसे पूंजीवाद की अच्छाइयों में एक कहा था। उन्होंने कहा था कि पूंजीवाद कल्याण और शोषण के बीच झूलता रहता है। वह कई बार शोषण करते-करते कल्याण की बात सोचने लगता है और कई बार कल्याण के बीच शोषण के उपाय खोजता है। इसलिए अंतर्राष्ट्रीय धनदाताओं द्वारा पैसा दिये जाने की बात को समझा जा सकता है। लेकिन उसकी प्रश्न उनका है जो इन पैसों के बल पर जनता का भला करने की बात सोचते हैं। मैं इसे गलत मानता हूं। सिर्फ संकट की घड़ी को छोड़कर दूसरो के पैसों से आप अपने देश के लोगों की समस्या का समाधान नहीं कर सकते क्योंकि एक तो इससे उनमें निर्भरता बढ़ती है और दूसरे इससे संबंधित संगठनों के स्वतंत्रता का ह्रास होता है। उन्हें वही कुछ कहना और करना पड़ता है जो धनदाता संगठन करते हैं। इस तरह बाहर से पैसा लेकर लोगों का कल्याण करने वालों में भी जनता से कुछ अलग होने का भाव बनने लगता है वे जनता का कल्याण करने के लिए 5 सितारा होटलों में बैठकें करते हैं, हवाई जहाज से यात्रा करते हैं और एक तरीके की

नौकरशाही प्रवृत्ति इनके बीच भी पनपने लगती है। इसलिए जो लोग हमारी मदद करना चाहते हैं उनकी भावना तो स्वाभाविक है। लेकिन हमारा उनसे मदद लेना उचित नहीं है। फंडिंग के रूप में विदेशी मदद पर निर्भरता के सिद्धांत को मैं गलत मानता हूँ।

कम्युनिस्ट पार्टियों में खासतौर पर भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को रूस से नियमित रूप से कुछ पैसों की मदद मिलती थी। हालांकि यह काम वे भाईचारा या सैद्धांतिक एकता के नाम पर करते थे लेकिन मैं इसे भी सही नहीं मानता। हम दूसरों पर निर्भर होकर कोई क्रांति या बड़ा बदलाव नहीं कर सकते। हमें अपने देश को आत्मनिर्भर बनाना होगा। किसी आपदा या बड़े आंदोलन के समय की बात दूसरी है। जैसे हम अभी बाल्को के आंदोलनकारी मजदूरों की मदद कर रहे हैं क्योंकि वे संघर्ष में हैं और खुद भी संसाधन जुटा रहे हैं। लेकिन समान्य समय में किसी संगठन को हम यूं ही मदद नहीं कर सकते। आंदोलन के लिए संसाधन जुटाना अपने आप में एक आंदोलनात्मक कार्य है। इसलिए मैं इस विचार का कतई नहीं हूँ कि विदेशी फंडिंग से कम्युनिस्ट पार्टियों के भी कार्यालय चलें।

बाहरी पैसों की मदद से और अंतर्निहित कारणों से गैर सरकारी अराजनीतिक रूख अख्तायार कर लेते हैं। इनके अराजनीतिक रहने की कोशिश भी लगातार होती है लेकिन वस्तुगत परिस्थितियां इन्हें भी राजनीतिक बना रही हैं। बांग्लादेश और लैटिन अमरीका जहां गैर सरकारी संगठन बड़ी संख्या में हैं वहां इनके राजनीतिकरण की प्रक्रिया शुरू हो गयी है।

चूंकि जनता द्वारा विकल्प की तलाश एक सतत प्रक्रिया है इसलिए इधर के दिनों में लोग इन संगठनों का विकल्प भी खोजने लगे हैं। एक समय इसी तलाश के तहत साम्यवादी या समाजवादी धारा के लोग एन.जी.ओ. से जुड़े थे लेकिन अब इन संगठनों के लोग भी इनकी सीमाओं से निराश होकर राजनीति में रूचि लेने लगे हैं। उन्हें यह लगने लगा है कि गैर सरकारी संगठन किसी खास मुद्दे से चिपके रहते हैं लेकिन उसकी व्यापकता, गहराई एवं

तीव्रता को संबोधित नहीं कर पा रहे हैं। नये रास्ते की तलाश में अब कम्युनिस्ट संगठनों से उनका जुड़ाव बढ़ रहा है।

इससे यह साबित होता है कि जनता की तलाश गैर राजनीतिक नहीं है, न ही गैर सरकारी संगठन उन्हें अराजनीतिक बना सकते हैं। दरअसल वे वैकल्पिक राजनीति की खोज में लगी हैं। एक ऐसी राजनीति की जो उनकी समस्याओं को सुने, समझे और उसे सुलझाने का रास्ता निकाले। साथ ही जो उनकी भूख और विश्व दृष्टिकोण को भी शांत कर सके। पहले वह तात्कालिकता और राजनीतिक ढोंग के कारण गैर सरकारी संगठनों की तरफ भागती है लेकिन फिर धारदार राजनीति की ओर जाती है। वह एक वैकल्पिक आवाज या वैकल्पिक राजनीतिक प्रक्रिया खड़ी करना चाहती है। गैर सरकारी संगठन एक समय तक निश्चित तौर पर जनता के शोषण, दमन और अत्याचार के खिलाफ आवाज उठाता है या पर्यावरण, विकास या जनता के लोकतांत्रिक अधिकारों के लिए चेतना फैलाता है। लेकिन जब प्रगतिशील, वामपंथी ताकतें इन मुद्दों को अपने कार्यक्रमों में शामिल कर लेंगी तो गैर सरकारी संगठनों की अपनी विशेषता खत्म हो जायेगी।

फिर भी यह कहना गैर वाजिब नहीं होगा कि फौरी सुधार और दूरगामी परिवर्तन के लिए अलग-अलग या साथ-साथ संघर्ष चलते रहेंगे। लेकिन ऐसा कभी नहीं होगा कि गैर सरकारी संगठन वामपंथी या प्रगतिशील राजनीति की जगह ले ले। लेकिन यह भी सही है कि चूंकि समाज में विभिन्न तरह की समस्याएं रहेंगी इसलिए गैर सरकारी संगठन भी रहेंगे। ऐसे संगठनों की उपस्थिति तो संभवतः साम्यवादी समाज में भी बनी रहेगी लेकिन कुछ दूसरे तरीके से। वे नागरिक समाज के छोटे-छोटे समूह रहेंगे जो शासन से अलग समाज के गैर राजनीतिक मुद्दों पर सक्रिय रहेंगे। वे पेशेवर नहीं होंगे बल्कि उनकी प्रतिबद्धता समाज के प्रति होगी और वे विदेशों से पैसा नहीं लेंगे।

स्वयंसेवी संगठन एवं विदेशी फंडिंग

हर्षमंदर

सबसे पहले स्पष्ट कर दूं कि मैंने आई.ए.एस. की नौकरी छोड़ी नहीं है। मैंने इस्तीफा नहीं दिया है। अब भी मैं मध्य प्रदेश सरकार का एक मुलाजिम हूं। सरकार ने एक नियम बनाया है कि कोई भी आई.ए.एस. अधिकारी पांच साल के लिए गैर सरकारी क्षेत्र में 'डेपुटेशन' पर कार्य कर सकता है। इस नियम का लोग लाभ नहीं उठाते और शायद अधिकांश अधिकारियों की दिलचस्पी भी नहीं रहती। मैंने 1999 में डेपुटेशन पर जाने का फैसला किया और अब ऐक्शन एड के लिए काम कर रहा हूं। अपनी बीस वर्ष की नौकरी में मैं कई प्रकार के अनुभवों से गुजरा। अनुभाग से लेकर जिला तक और फिर मंडल तक कई महत्वपूर्ण जिम्मेदारियों का निर्वाह किया। हमारा शुरुआती अनुभव बड़ा उत्साहजनक रहा। मैंने तय किया था कि अगर मौका मिला तो निचले स्तर पर गरीब आदिवासियों के बीच काम करूंगा। मैं यह तो नहीं कहूंगा कि सरकारी तंत्र के जरिये काम करना नामुमकिन है लेकिन कठिन जरूर है। दरअसल, लोकतंत्र में प्रायः गरीब तबकों और सामाजिक न्याय के पक्ष में घोषित रूप से अच्छे नियम-कानून बनते हैं। इन घोषित नियम-कानूनों से इतर एक अघोषित लक्ष्य भी होता है जिस पर सरकारें और नौकरशाही खासा जोर देती हैं। मैंने समाज के कमजोर वर्गों के पक्ष में बनी घोषित नीतियों को क्रियान्वित करने का खूब प्रयास किया। भ्रष्टाचार को रोकने और सांप्रदायिक सद्भाव कायम रखने का भी अभियान चलाया। लेकिन पता चला कि सरकारी तंत्र और राजनेता ऐसा करने देना नहीं चाहते। अक्सर टकराव की स्थिति बनती थी। अपनी बीस वर्ष की नौकरी में मुझे लगभग बीस बार ही तबादले की मार झेलनी पड़ी। यानी औसतन किसी भी जगह मुझे एक वर्ष से ज्यादा नहीं रहने को मिला। मैं अपने अनुभवों के आधार पर कह सकता हूं कि सरकारी तंत्र यहां तक कि न्यायालयों की भी प्रतिबद्धता घोषित नियम-कानूनों से इतर अघोषित नियम-कानूनों के प्रति ज्यादा रहती है। ये लोग गरीब

आदिवासी तबके के प्रति वफादार रहने की बजाय सत्ताधारी दल या बने-बनाये तंत्र के प्रति ज्यादा वफादार रहते हैं।

शायद मध्य प्रदेश वह राज्य है जहां गरीब तबके के पक्ष में सबसे ज्यादा अच्छे-अच्छे कानून बनाने और उसे क्रियान्वित न करने की परंपरा रही है। ऐसे कानूनों का अस्तित्व भी रहे और जो चाहे उसकी धज्जियां भी उड़ाता रहे – ये दोनों चीजें मध्य प्रदेश में पहले से रही हैं। अर्जुन सिंह के जमाने में भ्रष्ट आचरण पर रोक लगाने के लिए एक ऐसा कानून बना था जिसके अमल मात्र से भ्रष्टाचार पर काफी अंकुश लगाया जा सकता था, लेकिन वह कानून सरकारी फाइलों तक ही सिमटा रह गया। इसी तरह मध्य प्रदेश ने कुछ वर्ष पहले अपनी भू-राजस्व संहिता की धारा 170(ख) के तहत एक बेहद क्रांतिकारी प्रावधान किया था, जो कोई दूसरा प्रदेश न कर सका। यह धारा कहती है कि जिन आदिवासियों की जमीन धोखे से किसी ने हड़प ली है या अपने नाम कर ली है उस जमीन को वापस उन आदिवासियों को लौटा दिया जाय। इस कानूनी प्रावधान के होते हुए भी शायद ही किसी आदिवासी को अपनी जमीन का कोई हिस्सा मिला होगा। अभी कुछ वर्ष पहले एक कानून और बना जो शहर के झुग्गी-झोपड़ी वालों को रहने के लिए जमीन के हक की गारंटी करता है लेकिन यह कानून भी क्रियान्वयन से कोसों दूर है। अभी हाल में बने सूचना के अधिकार कानून का भी शायद वही हश्र होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि घोषित और अघोषित नियम-कानूनों का यह द्वंद्व ईमानदारी से काम करने वाले व्यक्ति के लिए काफी कठिनाई पैदा करते हैं। बावजूद इसके मैं यह नहीं मानता कि सरकारी तंत्र में काम करने का अवसर नहीं मिलता। नियम-कानूनों को बनाने और उनके क्रियान्वयन से विमुख रहने को भी एक बिड़बना ही कहा जाएगा। मुझे ऐसा लगता है कि लोकतंत्र में जिनके पास सत्ता होती है वे जान बूझकर घोषित-अघोषित के बीच का फर्क बनाये रखते हैं।

कोई यह पूछ सकता है कि जब सरकारी तंत्र में काम करने के पर्याप्त अवसर थे तो फिर मैं क्यों एन.जी.ओ. क्षेत्र की ओर बढ़ गया। इसका बेहद निजी कारण है जो मेरी पसंदगी—नापसंदगी से जुड़ा है। बिलासपुर का कमिशनर रहने के बाद मेरी गिनती मध्य प्रदेश के वरिष्ठ अधिकारियों में होने लगी। आगे मुझे सचिवालय की जिम्मेदारियां निभानी पड़ती जबकि मेरी इच्छा 'फील्ड वर्क' करने की थी। क्रियान्वयन की जिम्मेदारियों से दूर सचिवालय के एक बंद कमरे में बैठना मेरी पसंद नहीं हो सकती थीं। लिहाजा मैंने 'डेपुटेशन' पर ऐक्शन एड के लिए कार्य करने का निर्णय लिया। जो लोग यह कहते हैं कि सरकारी तंत्र से मोहभंग हो जाने के कारण मैं गैर सरकारी क्षेत्र में आया हूँ उनसे मुझे सिर्फ यही कहना है कि किसी भी तंत्र से मोहभंग तभी होता है जब उसके प्रति व्यक्तिविशेष का कभी 'मोह' रहा हो। शुरू से ही मैं नौकरशाही की सीमाओं से परिचित था। कभी मेरा इस तंत्र के प्रति मोह रहा ही नहीं लिहाजा मोहभंग का सवाल ही पैदा नहीं होता।

जब से भूमंडलीकरण की प्रक्रिया तेज हुई है तब से यह कहा जा रहा है कि देश चलाने की जिम्मेदारी अब सरकार नहीं निभा सकती, यह काम करने के लिए निजी और गैरसरकारी क्षेत्र को आगे आना चाहिए। यह सही है कि सरकार अपनी भूमिका से पीछे हटना चाहती है और खुले तौर पर अपनी असफलता स्वीकार करते हुए अपनी घोषित नीतियों से भी पिंड छुड़ाना चाहती है लेकिन मुझे नहीं लगता कि यह हो पाएगा। अगर होता है तो इसका जमकर विरोध किया जाना चाहिए। आखिर संपूर्ण एन.जी.ओ. क्षेत्र मिल कर काम करे तो भी वह मात्र 5 प्रतिशत आबादी तक पहुंच सकता है। गरीब तबकों के लिए सामाजिक न्याय, शिक्षा और स्वास्थ्य की सुविधाओं का इंतजाम करने की जिम्मेदारी अंततः सरकारों को ही उठानी पड़ेगी। सरकार अपनी इस भूमिका से मुंह नहीं मोड़ सकती। आखिर किसी सरकार को यह फैसला लेने का हक भी तो जनता ही देगी। क्या जनता ने ऐसा जनादेश दिया है। मुझे राजस्थान में सक्रिय मजदूर किसान शक्ति संगठन का वह नारा ज्यादा प्रासंगिक लगता है जिसमें कहा गया है— 'सरकार हमारे आपकी, नहीं किसी के बाप की'। यानी सरकार आम जनता की है और उसे जनता के प्रति जवाबदेह होना पड़ेगा।

अब रही बात गैर सरकारी क्षेत्र की तो उसके सामने भी कई सवाल खड़े हैं। मैं जिस संस्था ऐक्शन एड का काम देख रहा हूँ उसे अभी तक मूलतः एक फंडिंग एजेंसी माना जाता रहा है। सरकार से जो क्षेत्र छूट जाते थे या सरकारी मशीनरी भारतीय समाज के जिन निचले, दबे-कुचले तबकों तक नहीं पहुंच पाती थी उन तक पहुंचना ऐक्शन एड का मुख्य लक्ष्य रहा है। लंबे समय तक यह संस्था ने उन तबकों के बीच काम करने वाले एन.जी.ओ. को धनराशि मुहैया कराकर उनके विकास की बात सोचती रही है लेकिन मेरा अनुभव बहुत उत्साहजनक नहीं रहा। जिस रफ्तार से विकास का एक छोटा टुकड़ा इन तबकों तक पहुंचता रहा उससे कुछ खास हासिल नहीं हुआ। इसलिए अब हमने सोचा है कि एन.जी.ओ. के साथ-साथ खुद ऐक्शन एड को भी सीधे इस मुहिम में उतरना चाहिए और अपना पूरा जोर उन तबकों तक विकास का एक टुकड़ा पहुंचाने के बजाय उन्हें अपने अधिकारों के प्रति सचेत करने पर दिया जाना चाहिए ताकि समाज और सरकार से वे अपना हक प्राप्त कर सकें।

दूसरा सवाल देशी-विदेशी पैसे की नैतिकता-अनैतिकता को लेकर उठता है। ऐक्शन एड को औसतन सालाना 50 करोड़ रुपये विदेशों से मिलता है। यह संस्था न तो किसी देशी-विदेशी सरकार से धन लेती है और न ही किसी बहुराष्ट्रीय कंपनी या औद्योगिक घराने से। ऐक्शन एड को मिलने वाली धनराशि का लगभग 99 प्रतिशत हिस्सा इंग्लैंड, इटली और अन्य कुछ यूरोपीय देशों की सामान्य जनता से आता है। हम विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष जैसी संस्थाओं से भी पैसा नहीं लेते। शायद इसीलिए ऐक्शन एड भूमंडलीकरण के विरुद्ध काफी सख्त रुख रख पाता है। यह संभव नहीं कि विश्व बैंक से पैसा लिया जाय और उसके द्वारा संचालित भूमंडलीकरण की नीतियों के खिलाफ आवाज उठायी जाय। अब सवाल उठता है कि इंग्लैंड और इटली के सामान्य लोग भारत के गरीबों का उत्थान करने के लिए अपनी गाढ़ी कमाई का एक अंश ऐक्शन एड को क्यों दान करते हैं? इसके कई सामाजिक और मनोवैज्ञानिक कारण हो सकते हैं जिनमें से एक यह भी है कि गरीब के लिए कुछ दान करने की उनमें स्वाभाविक प्रवृत्ति है। यह एक अपेक्षाकृत अमीर देश के लोगों का गरीब मुल्क के लोगों के प्रति दायित्व जैसी बात है। ऐक्शन एड दुनिया के करीब तीस देशों में सक्रिय है

जिसमें भारत के लिए सर्वाधिक राशि निर्धारित की गयी है। यह जनता का जनता के लिए किया गया एक प्रयास है।

ऐक्शन एड के अनुभवों के आधार पर मैं कह सकता हूँ कि देशी-विदेशी पैसे को लेने न लेने से ज्यादा महत्वपूर्ण सवाल यह है कि वह पैसा कौन देता है? पैसा देश का है या विदेश का वह उतना महत्व का विषय नहीं और इसको लेकर नैतिकता का प्रश्न भी नहीं उठाया जाना चाहिए। असल बात है कि वह पैसा कौन दे रहा है – किस स्रोत से आ रहा है? देशी-विदेशी से ज्यादा स्रोत की नैतिकता का सवाल उठना चाहिए। मसलन, कोई विदेशी सरकार या औद्योगिक घराना अगर पैसा देता है तो उसके निहित स्वार्थों पर बात होनी चाहिए। किसी तस्कर या माफिया सरगना से पैसा लेना समान रूप से अनैतिक है चाहे वह देश का हो या विदेश का। मैं समझता हूँ कि स्रोत शत-प्रतिशत नैतिक है क्योंकि वह धनराशि उन देशों के आम लोग बतौर दान देते हैं। दरअसल, सी.आई.ए. और अन्य खुफिया एजेंसियों के कारनामों के कारण ऐतिहासिक तौर पर हमारे देश में विदेशी पैसे के प्रति एक आशंका का भाव रहा है। इस आशंका भाव के कारण हम अनैतिक और अवैधानिक स्रोतों से जमा किया गया स्वदेशी पैसे को जायज ठहराने लगते हैं। यह उचित नहीं है। स्रोत की नैतिकता और पैसे देने वाले की मंशा को ही महत्व दिया जाना चाहिए तभी अच्छा काम हो सकता है और एन.जी.ओ. उन गरीब, दबे-कुचले लोगों तक पहुंच सकते हैं जिनको इस अनैतिक पैसे ने हाशिये पर धकेल रखा है।

मुझे लगता है कि एन.जी.ओ. क्षेत्र में सबसे ज्यादा पारदर्शिता को लेकर बहस छिड़नी चाहिए। जब हम सरकार से सूचना के अधिकार की मांग करते हैं तो सबसे पहले हमें गैर सरकारी संगठनों में इसे लागू करना पड़ेगा। इस दृष्टि से लिलोनिया में बंकर राय ने एक नायाब उदाहरण प्रस्तुत किया है। मैं समझता हूँ कि सभी एन.जी.ओ. को एक निश्चित तारीख को जनता के बीच अपने आय-व्यय का पूरा लेखा-जोखा प्रस्तुत करना चाहिए। यह काम

इसलिए भी जरूरी है क्योंकि गैर सरकारी क्षेत्र में कई सारे फर्जी एन.जी.ओ. पैदा हो गये हैं। पारदर्शिता के बगैर उन पर अंकुश लगा पाना नामुमकिन हैं इसके साथ लाइफ स्टाइल का भी सवाल प्रमुख है। कोई एन.जी.ओ. अपने स्वयंसेवकों के वेतन, भत्ते और प्रशासनिक खर्च के लिए कितनी धनराशि निर्धारित करे यह प्रश्न भी उठना चाहिए। हमने ऐक्शन एड के लिए प्रशासनिक व्यय की सीमा 10-12 प्रतिशत निर्धारित की है। जरूरत के मुताबिक इसे थोड़ा बहुत घटाया-बढ़ाया जा सकता है लेकिन हर हाल में यह राशि कुल व्यय का 20 प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिए। सादगी की अवधारणा को आत्मसात करना इसलिए भी जरूरी है क्योंकि यह पैसा आम जनता द्वारा आम जनता के लिए दिया गया है। जिस तबके में एन.जी.ओ. विशेष को काम करना है उस तबके का विश्वास जीतने के लिए भी जरूरी है कि एन.जी.ओ. विशेष का कार्यकर्ता सादगीपसंद हो।

अक्सर कहा जाता है कि एन.जी.ओ. क्षेत्र का जैसे-जैसे विस्तार हुआ वैसे-वैसे उसने जमीनी स्तर पर काम करने वाली समाजवादी, सर्वोदयी और वामपंथी राजनीतिक प्रक्रिया को नुकसान पहुंचाया। यह बात सही नहीं है। वैसे भी पूरे एन.जी.ओ. क्षेत्र को एक जैसा मानकर चलना ठीक नहीं है। जिन एन.जी.ओ. के पैसे के स्रोत नैतिक होंगे और उनका उद्देश्य पवित्र होगा वे अंततः राजनीतिक प्रक्रिया को मजबूत ही करेंगे। एन.जी.ओ. पर आरोप लगाने के बजाय हमें अपना आत्मनिरीक्षण करना चाहिए। वैसे भी नर्मदा बचाओ आंदोलन पर राजस्थान का मजदूर किसान शक्ति संगठन का कई ईमानदार एन.जी.ओ. से सहकार रहा है और इन लोगों ने जो काम किया वह संगठित वामपंथ नहीं कर सका। ऐसे और कई गैर सरकारी संगठन हैं जो उन आदिवासी अंचलों में काम कर रहे हैं जिनमें मुख्य धारा के राजनीतिक दल पहुंचने का सोचते भी नहीं हैं। इसलिए इन सवालों को उठाने के बजाय एन.जी.ओ. क्षेत्र की खामियों पर बात होनी चाहिए और कोशिश होनी चाहिए कि उनके पैसे के स्रोत और उद्देश्य दोनों नैतिक हों।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ एवं स्वयंसेवी कार्य

महेश शर्मा

मैं आई.आई.टी., दिल्ली से (मैकेनिकल इंजीनियरिंग के क्षेत्र में) शोध कार्य करने के दौरान ही अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद के साथ ऐसे प्रयोगों की ओर आकर्षित हुआ था, जिसमें पिछड़े और उपेक्षित ग्रामीण क्षेत्रों में ज्यादा काम करने की जरूरत थी। उसी दिशा में अपनी क्षमता बढ़ाने के इरादे के तहत मुझे लगा कि भारत में विज्ञान और प्रौद्योगिकी को गांवों के विकास की ओर मोड़ने के लिए बहुत कुछ किये जाने की जरूरत है। यह 1981 की बात है। उस वक्त मैं अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद का महामंत्री था। रांची के पास पलामू, गुमला और लोहरदगा के बीच का क्षेत्र बिशनपुर गांव मेरी कर्मभूमि रही है। वहां काम करने के दौरान मुझे नौकरशाही की व्यवस्थित इकाई न होने का ज्यादा कष्ट हुआ। अगर प्रशासनिक तंत्र को हम व्यवस्थित किये होते, तो सामाजिक हितों का काम ज्यादा व्यावहारिक बनाया जा सकता था।

जो स्वैच्छिक संगठन ईमानदारी से काम करना चाहते हैं, उन्हें प्रशासनिक तंत्र के व्यवस्थित स्वरूप के अभाव के कारण वाकई ज्यादा रोना आएगा। इसीलिए मैंने बाजार को इकाई बनाकर अपना काम शुरू किया। वजह यह है कि ग्रामीण बाजारों में लोगों का प्रायः आना-जाना लगा रहता है शुरू में हमने किसी नाम के तहत काम नहीं किया, बाद में हमने उसे 'विकास भारती' नाम दिया। इसके बाद कारीगरों के सहयोग से काम करना शुरू किया तो 'कारीगर पंचायत' का नाम दिया। इसके बाद मैंने छोटा नागपुर क्षेत्र में काम किया, तो उसे 'विकास पंचायत' नाम दिया। मैं अब भी वहां से जुड़ा हूँ, यद्यपि इस वक्त मेरी वहां के कामों में सीधी भागीदारी नहीं रहती है। लेकिन मैं वहां आता-जाता और कार्यकर्ताओं से मिलता रहता हूँ। इन सबके अलावा मेरा 'वनवासी कल्याण आश्रम' के साथ भी सीधा संबंध रहा है। मैं मुख्य रूप से उसके अनुसंधान और विकास के क्षेत्रीय कार्यक्रमों में शामिल रहा हूँ।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और उसकी दूसरी आनुषंगिक इकाइयां जन कल्याण के कार्यक्रमों में लगातार शामिल रही हैं, उन्हें किसी तरह का प्रलोभन भी नहीं होता और उन्हें प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक हितों के शुभचिंतक पैसे और दूसरे संसाधन मुहैया कराते रहते हैं। मेरा निजी तौर पर मानना है कि स्वैच्छिक संगठनों को विदेशी अनुदान का मुंह नहीं देखना चाहिए। हमें कुछ सरकारी अनुदान भी मिलता रहा है। सरकार का पैसा आम जनता का पैसा होता है और उस पैसे पर हमारा भी हक है। जो विदेश से पैसा लेते हैं; वे कहीं न कहीं से विदेशियों के हितों को पूरा करते हैं जिसे मैं पूरी तरह गलत और अनुचित मानता हूँ।

आज स्वैच्छिक संगठनों के बीच ऐसी प्रवृत्ति बढ़ी है कि किसी भी तरह जन कल्याण के नाम पर निजी लाभ के लिए पैसा बनाया जाय। खादी-ग्रामोद्योग आयोग इस तरह के कामों में दूर-दूर तक शामिल नहीं है। मैंने देखा है कि कई स्वैच्छिक संगठनों को मिलने वाले अनुदान की बड़ी राशि स्वार्थी पदाधिकारी हजम कर जाते हैं। आयोग के तहत काम करने वाली इकाइयों में अधिकांश प्रशंसा लायक काम कर रहे हैं, बावजूद इसके जिन इकाइयों पर भ्रष्टाचार के आरोप सही पाये गये, हमने उनका सर्टिफिकेट तुरंत रद्द कर दिया। दरअसल, पैसे के गबन के लिए सामाजिक परिस्थितियां भी कम दोषी नहीं हैं। कई स्वैच्छिक संगठनों में गलत किस्म के लोग घुसे बैठे हैं। दुर्भाग्य से राजनीति में सक्रिय रहने वाले भी इसमें पैठ कर गये हैं। उन्हें लगता है कि जितनी मेहनत राजनीति में की गयी, उसकी वसूली का सरल और सुगम रास्ता स्वैच्छिक संगठनों को मिलने वाले अनुदान हैं। ऐसे भी लोग हैं जो बड़े नेताओं से जल्दी-जल्दी सहयोग राशि पाने में सफल हो जाते हैं और कई बार उन्हें अवैध कमाई के दूसरे साधन भी उपलब्ध हो जाते हैं।

‘कपार्ट’ ही नहीं, कल्याण बोर्ड भी गलत तरीके से पैसा खींचने वालों का नाम ले रहा है यहां तक कि मैं खादी-ग्रामोद्योग में भी देख रहा हूँ। इसके बारे में हम गंभीर हुए और बहुत सारी खादी-ग्रामोद्योग इकाइयों के सर्टिफिकेट्स हमने रद्द किये हैं तथा उन्हें एक भी पैसे की मदद

देना बंद कर दी है। आयोग ने उनके खिलाफ कार्रवाई भी की है। जहां हमने जरूरी समझा, सतर्कता विभाग और सी.बी.आई. तक से भी जांच करने की सिफारिशें की गयी हैं। यह करना इसलिए जरूरी है कि हम बखूबी जानते हैं कि जो हमारे कारीगर, बुनकर आदि लक्षित समूह हैं, उन तक मदद पहुंचनी चाहिए, इसके विपरित मदद-राशि बीच में कहीं गड्डु-मड्डु हो जाती थी और जिन छोटे-छोटे कारीगरों और बुनकरों को पैसे की सबसे ज्यादा जरूरत होती थी, उनका हाथ खाली ही रह जाता था। आयोग पैसों के गबन करने वालों के साथ कड़ाई से पेश आता रहा है।

मुझे कई बार लगता है कि हमारी जो नौकरशाही है, वह पैसों की हेरा-फेरी करवाने में प्रत्यक्ष भागीदार है। मेरा तो पक्का विश्वास है और आयोग में मैने कहा भी है कि जब तक प्रशासनिक तंत्र की भागीदारी नहीं होती है, भारत में ईमानदारी से काम करने वाली स्वैच्छिक संस्थाओं को तरक्की करने का मौका नहीं मिलता है। दरअसल, ईमानदार संस्थाओं को हाशिये पर रखने की साजिश सदा से होती आयी है। इसके उलट संस्थाओं के बहुत लोग अवैध तरीके से व्यक्तिगत पैसे बनाने में लगे हुए हैं। यह तो शुरू से साथ-साथ चलते रहने वाली प्रक्रिया रही है। गलत लोगों पर कोई अंकुश नहीं रह गया है। हां, ईमानदारी से काम करने वाली स्वैच्छिक संस्थाओं पर जरूर अनावश्यक दबाव बनाये रखा जाता है। लेकिन मैं अपने अनुभव के आधार पर कह सकता हूं कि कपार्ट, कल्याण बोर्ड और खादी-ग्रामोद्योग में जब तक प्रशासनिक तंत्र सक्रियता से भागीदारी नहीं करता, तब तक ईमानदार संस्थाओं को फलने-फूलने का मौका नहीं मिलेगा। इस काम में तुरंत ही बहुत कड़ाई करने की जरूरत है। कपार्ट या केन्द्रीय सतर्कता आयोग को याद करते रहने की जरूरत नहीं है। जो नौकरशाह और ईमानदार अधिकारी जहां भी नियामक स्थिति में हैं, सबको अपने-अपने मोर्चे पर बुराई से सख्ती से निपटने की जरूरत है।

खादी और ग्रामोद्योग अपने आप में अद्वितीय संरचना हैं यह जन-कदम में बराबर का सहभागी रहा है। हम अन्य स्वैच्छिक संगठनों के मुकाबले ज्यादा और सच्चे अर्थों में जन-सेवा कर रहे हैं। मुझे यह कहते हुए खुशी होती है कि आजादी के आंदोलन के दौरान महात्मा गांधी का जो रचनात्मक कार्यक्रम था, हमारी जड़ें वहां से हैं। आजादी के संघर्ष के दिनों से ही सैकड़ों दूसरी संस्थाएं भी रचनात्मक कार्यक्रमों के साथ सक्रिय रही हैं। जितना बड़ा जाल खादी-ग्रामोद्योग संस्थाओं का है, उतना विस्तृत शायद किसी दूसरी एजेंसी का नहीं है। खादी-ग्रामोद्योग अपने में अनूठी और अभिनव संरचना है। दुनिया में कहीं भी इस तरह की दूसरी संस्था आज की तारीख में नहीं है जिससे करीब 60 लाख कारीगर जुड़े हों। हमारी संस्था अपने कारीगरों को न सिर्फ आर्थिक मदद, बल्कि प्रशिक्षण और तकनीकी सुविधाओं व मार्केटिंग तंत्र उपलब्ध कराती है। इस तरह हम उन्हें समय-समय पर आवश्यकताओं और सुविधाओं का समुच्चय उपलब्ध कराते रहते हैं।

हमारे तंत्र में सरकारी मशीनरी का सीधा सहयोग बहुत ही सीमित है। हमारा 95 प्रतिशत काम स्वैच्छिक संस्थाओं के माध्यम से होता है। हम स्वयं आयोग के मार्फत बहुत कम काम करते हैं। पिछले साल खादी और ग्रामोद्योग की बिक्री करीब 60 हजार करोड़ रुपये की रही है। आयोग द्वारा संचालित भवनों जिनकी संख्या लगभग 25 है, के जरिये हम निर्यात भी करते हैं। पिछले साल हमने करीब 70 करोड़ रुपये के माल का निर्यात भी किया था। इस तरह निर्यात हमने अपनी समूची बिक्री का करीब एक प्रतिशत ही किया। इससे होने वाली कमाई का एक बड़ा हिस्सा हम मेहनतकश बनुकरों को देते हैं, जिनका सबसे ज्यादा योगदान खादी-ग्रामोद्योग के संसाधनों को मजबूत करने के लिए होता है। इस तरह हम स्वैच्छिक संस्थाओं के मुकाबले ज्यादा सामाजिक विकास के कामों में योगदान करते हैं। भारत भर में फैले खादी भंडार या खादी की दुकानों की संख्या करीब 15 हजार है। इनमें से आयोग के डिपार्टमेंटल के रूप में काम करने वाली दुकानों की संख्या करीब 25 है। आमतौर पर हमारा पूरा का पूरा तंत्र दूसरी सामाजिक संस्थाओं (जिन्हें हम स्वैच्छिक संस्थाएं भी कह सकते हैं) के माध्यम से चल रहा है। हम प्रयासरत हैं कि आयोग के साथ सहयोग रखने वाली सामाजिक

संस्थाओं की इस वक्त की स्थिति और मजबूत हो। हां, यह सच है कि समाज की नकारात्मक प्रवृत्तियों का असर जिस तरह और जिन जगहों में देखने को मिल रहा है, हम भी उससे अछूते नहीं हैं। इस नाते मैं कहना चाहूंगा कि भारत में भी प्रगतिकामी शक्तियों को मजबूत करने और टालमटोल मानसिकता को खत्म करने की तत्काल जरूरत है।

हमें जनाधार को और व्यापक बनाने का प्रयास भी करना होगा। इसके लिए कारीगरों में और अधिक सक्रियता से काम करने की प्रवृत्ति बढ़नी चाहिए। समाज की सेवा तब तक अधूरी मानी जाती है, जब तक हम महिला समाज को अपने कार्यक्रमों से नहीं जोड़ पाते। इसी बात को ध्यान में रखकर हमने महिलाओं को रोजगार के दायरे में लाने का प्रयास तेज करने की दिशा में काम किया है। अभी कोई पांच लाख लोग बतौर कारीगर खादी-ग्रामोद्योग की सेवा में लगे हुए हैं, हमारा लक्ष्य है कि इनकी संख्या करीब एक करोड़ हो जाये। इससे हम ज्यादा महिलाओं, अनुसूचित जातियों, जनजातियों, अन्य दलित जातियों, अल्पसंख्यकों और नौजवान बेरोजगार लोगों को सीधा लाभान्वित कर सकते हैं। उनकी ज्यादा भागीदारी का लक्ष्य तय करने के लिए हमने कोई कमी या कसर नहीं छोड़ी है। आयोग देश के सीमाई क्षेत्रों में बहुत अहम भूमिका निभा सकता है। मेरी मान्यता है कि जितना हम रक्षा पर खर्च करते हैं, यदि हम उसका 2 प्रतिशत भी खादी उद्योग सहित दूसरे रोजगार के अवसर पैदा करने पर खर्च कर दें, तो आतंकवाद जैसे घिनौने कामों में लगे लोग रचनात्मक कार्यक्रमों में भागीदारी के लिए हाथ बढ़ाएंगे। स्वैच्छिक संगठन इससे ज्यादा समाज की क्या सेवा कर सकते हैं? सरकार को इस दिशा में सोचना चाहिए। इस संबंध में मैंने जॉर्ज फर्नांडिज़ और दूसरे मंत्रियों से समय-समय पर आग्रह भी किया था कि जो खाली हाथ हैं, यदि उन्हें रचनात्मक कार्यक्रमों में शामिल कर दिया जाय, जो वे देश के विकास का काम तो करेंगे ही, वे आतंकवाद में लगे लोगों को भी अपने रचनात्मक कामों की ओर मोड़ने को प्रेरित कर सकेंगे।

खादी-ग्रामोद्योग आयोग को इस बात की खुशी है कि पिछले तीन वर्षों में हमने लाखों की संख्या में नये रोजगार पैदा किये हैं। 1977 से अब तक हमने लगभग 9 लाख लोगों को रोजगार से जोड़ा है पिछले साल के बजट में ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम और 'मार्जिन मनी स्कीम' के नाते ग्रामीण रोजगार में वृद्धि हुई है पिछले दिनों हमने बड़े बैंकों को ऋण भी दिया है। यहां यह कहना भी समीचीन होगा कि पिछले साल हमारा निवेश 70 करोड़ रुपये बढ़ा है। कई राज्यों से रिपोर्टें मिली हैं, उनके मुताबिक खादी-ग्रामोद्योग आयोग के अभी तक के 45 वर्ष के अस्तित्व काल में पिछले 42 वर्षों में लगभग 19 करोड़ रुपये का निवेश हुआ, जबकि पिछले 3 साल में हमारा निवेश करीब 22 करोड़ रुपये का हुआ। जहां तक निर्यात से होने वाले आय की बात है, हम अपने दम पर निर्यात करके पिछले साल 30 करोड़ रुपये की कमाई कर चुके हैं। आयोग व्यापारियों के जरिये भी निर्यात करता है, पिछले साल इसने 100 करोड़ रुपये का निर्यात किया था।

करीब एक साल पहले उद्योग मंत्रालय ने महसूस किया कि किसी 'विशेषज्ञ एजेंसी' को संगठन के पुनर्संरचना के कामों में लगाया जाय, ताकि सारे कामकाज को ठीक ढंग से व्यवस्थित किया जा सके। इस सिलसिले में उसमें बहुत सारी एजेंसी में से आर्थर एण्डरसन का चयन किया गया था और उसने पिछले साल अक्टूबर में अपनी रिपोर्ट सौंपी। अभी मंत्रालय में इस बारे में विचार चल रहा है, आयोग से भी राय मांगी गयी है। खादी-ग्रामोद्योग के राज्यों से संबंधित बोर्ड और स्वैच्छिक संस्थाएं मई, 2001 में कार्यशाला का आयोजन करने वाली हैं जिसमें आम राय बनाकर आर्थर एण्डरसन के बारे में हम अपनी रिपोर्ट मंत्रालय को सौंप देंगे। हमारा मुख्य ध्यान खादी-ग्रामोद्योग आयोग के सामाजिक हितों के लक्ष्यों को लगातार हासिल करने की ओर है।

जन संसाधनों का काम विदेशी पैसे से नहीं हो सकता

मेधा पाटकर

कुछ लोग गैर-सरकारी संगठनों और जन आंदोलन चलाने वाले संगठनों को एक श्रेणी में रखते हैं, मैं इस विचार से सहमत नहीं हूँ। मैं गैर-सरकारी संगठनों और जन आंदोलन चलाने वाले संगठनों में फर्क मानती हूँ। फर्क का मतलब यह नहीं है कि किसी को श्रेष्ठ या किसी को निम्न समझना है। जब हम फर्क की बात करते हैं तो इसका अर्थ 'हाइरार्की' से नहीं लिया जाना चाहिए। वस्तुतः जन आंदोलन करने वाले संगठनों को गैर-सरकारी संगठनों का सहयोग और समर्थन भी मिलता है। गैर-सरकारी संगठनों के कार्यालयों में हम अपना सामान आदि रखते हैं। नर्मदा आंदोलन को अनेक सामाजिक संगठनों का सहयोग और समर्थन मिला है। गैर-सरकारी संगठनों से अलग अनेक व्यक्तियों या जन संगठनों के प्रतिनिधियों के समूहों की एक हमारी समन्वय समिति है। आमतौर पर गैर-सरकारी संगठनों की तरह जन आंदोलन चलाने वाले संगठन भी अनेक प्रकार के कार्यक्रम, गोष्ठियां और कार्यशालाएं आयोजित करते हैं। इनमें फर्क यह होता है कि गैर-सरकारी संगठन ऐसे कार्यक्रम ज्यादातर शहरों या निर्णय लिये जाने वाले केंद्रों में आयोजित करते हैं जबकि जन आंदोलन चलाने वाले संगठन सुदूरवर्ती क्षेत्रों या देश के अंदरूनी हिस्सों में ऐसे कार्यक्रम आयोजित करते हैं।

मूलरूप से आंदोलनात्मक स्वरूप लिये हुए जन संगठनों की विशेषता यह होनी चाहिए कि वे समाज में बुनियादी बदलाव लाने के लिए काम करें। ऐसे जन संगठन परिवर्तनवादी होते हैं और दुनिया में बदलाव लाने के प्रति उनकी अभिरुचि होती है। जन आंदोलन या जन संघर्ष करने वाले संगठनों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वे व्यवस्था का हिस्सा न बन जायें। ऐसे जन संगठनों को इस बात का भी विशेष ध्यान रखना पड़ता है कि वे एक बड़ा प्रतिष्ठान न बनें। साधनों के स्रोतों की शुद्धता और प्रतिबद्ध कार्यकर्ताओं के चलते जन संघर्ष करने वाले संगठनों की एक अलग छवि बन पाती है। ऐसे जन संगठन बुनियादी बदलाव लाने

के लिए संघर्ष करने में हिचकिचाते नहीं हैं। परिवर्तनवादी रुख के कारण इनकी गतिशीलता भी बनी रहती है। जन संघर्ष को आगे बढ़ाने या मजबूती देने में गैर-सरकारी संगठन भी थोड़ा बहुत जोखिम उठाते ही है, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि गैर-सरकारी संगठन संघर्ष में बिल्कुल उतरते ही नहीं। इस प्रकार यदि ये जन संघर्ष में अपना सहयोग और समर्थन देते हैं तो यह भूमिका भी बहुत महत्व की है। पर यह सच है कि जन संघर्ष करना बहुत साहस की बात है।

पिछले कुछ वर्षों से गैर-सरकारी संगठनों को मिलने वाले देशी-विदेशी वित्तीय अनुदान बहस का एक बड़ा मुद्दा बना हुआ है। कुछ लोग यह भी आरोप लगाते हैं कि अनुदान देने वाली विदेशी संस्थाएं देश में अपना एजेंडा थोपती हैं। मेरा स्पष्ट मत है कि सौ प्रतिशत ऐसा होता है, यह कहना गलत है। हां, इतना जरूर है कि कुछ हद तक अपना प्रभाव-दबाव बनाये रखने के लिए ऐसा होता है। यह बात विदेशी ही नहीं देशी पूंजी पर भी लागू होती है। पूंजीवादी व्यवस्था के बारे में यदि हम बात करें तो विदेशी पूंजी के जो गुण धर्म हैं काफी हद तक देशी पूंजी के भी वही हैं। देशी पूंजीवाद भी बहुत शोषक हो सकता है। पर इस बात को पूरी तरह नकारा नहीं जा सकता कि विदेशी ऋणदाता संस्थाएं अपना एजेंडा नहीं थोपती।

विदेशी पैसों के स्रोतों में भी फर्क जरूर होता है। स्वीडीश या ब्रिटिश ऋणदाता एजेंसियों का एक व्यापक एजेंडा होता है। उनके साथ कोई गैर-सरकारी संगठन केवल पैसों के लिए ही जुड़ता है। यह भी देखा जाना चाहिए कि पैसा किस एजेंडे के लिए मिल रहा है। यदि संयुक्त राष्ट्र संघ पानी के लिए पैसा देता है तो उसे लेने में कोई बुराई नहीं। जिन गांवों में पेय जल उपलब्ध नहीं है वहां पानी का बहुत महत्व होता है। लोगों के बीच काम करते समय उनकी जरूरतों को भी देखना पड़ता है। लेकिन कई बार जिस काम के लिए पैसा नहीं चाहिए उसके लिए भी पैसा ले लिया जाता है। गैर-सरकारी संगठनों की बात छोड़िए सरकारी संस्थाएं भी ऐसा करती हैं। उदाहरण के लिए वनीकरण के मद पर भारत को पैसा नहीं चाहिए। जमीन

हमारा है, पौधे हमारे हैं और इन्हें लगाने वाले हमारे हाथ खाली पड़े हैं। लेकिन पैसा लेने की हमारी आदत पड़ गयी है।

विदेशी एजेंसियां वित्तीय मदद देकर किस तरह धोखाधड़ी करवाती हैं इस बारे में मैं अपना एक अनभुव यहां उल्लेख करना चाहती हूं। एक बार एक शोधार्थी (रिसर्च स्कॉलर) मेरे पास आया। नर्मदा आंदोलन के दौरान हमने उस परियोजना से विश्व बैंक को कैसे हटाया, इस विषय पर वह शोध करना चाहता था। हमने उससे कहा कि यह जानकारी आप कहीं से भी इकट्ठा कर सकते हैं। आपको कोई रोक नहीं सकता पर हम आपको यह जानकारी उपलब्ध कराने में सहभागी नहीं हो सकते। ऐसा इसलिए कि अभी संघर्ष चल रहा है और इस स्थिति में हम अपनी किसी भी रणनीति को सार्वजनिक नहीं कर सकते। यदि यह जानकारी किसी गलत आदमी के हाथों पड़ गया तो हमारे संघर्ष का बहुत बड़ा नुकसान हो सकता है, यही रणनीति तो आंदोलन की पूंजी होती है। रणनीति में तत्परता और कुशलता यही हमारी ताकत है। उस व्यक्ति ने अपना शोधकार्य छोड़ दिया। बाद में उसी व्यक्ति ने बताया कि इस शोध कार्य के लिए विश्व बैंक ने किसी दूसरी संस्था के माध्यम से पैसा दिया था।

गैर-सरकारी संगठनों और जन संघर्ष चलाने वाले संगठनों के बारे में यह सवाल भी बहस के दायरे में है कि किसी भी स्तर पर इनको विदेशी पैसा लेना चाहिए या नहीं। इस बारे में मेरा कहना है कि *जन संघर्षों का काम तो विदेशी पैसों से हो ही नहीं सकता। गैर-सरकारी संगठनों को विदेशी पैसों पर निर्भर करना पड़ता है क्योंकि कांटे से कांटा निकालने जैसी स्थिति है। इसके बावजूद मेरा विचार है कि जहां तक हो सके विदेशी पैसों से दूर ही रहना चाहिए। गैर-सरकारी संगठन किसी राहत कार्य के लिए थोड़ा बहुत पैसा ले लें तो इसमें कोई हर्ज नहीं लेकिन बुनियादी काम में तो हर्गिज पैसा नहीं लेना चाहिए। मसलन, कार्यकर्ताओं का खर्च उठाने के लिए तो कतई बाहरी पैसा नहीं लेना चाहिए क्योंकि यदि यह*

अचानक बंद हो गया तो सारा काम भी टप्प हो जाएगा। देशी पैसों के साथ भी यह खतरा रहता है।

हमारे कार्यकर्ता शहरों के विभिन्न समूहों जैसे डॉक्टर, इंजीनियर या वकीलों के साथ जुड़ सकते हैं। वे उनका थोड़ा बहुत खर्च उठाते हैं। इसमें कोई बुराई नहीं है। हमें कई लोगों ने जीप और साइकिलें आदि साधन उपलब्ध कराये हैं। हम वकीलों को केस-मुकदमों का पैसा नहीं देते। यहां तक कि कागजात भी वकील ही देते हैं। आंदोलन के तकरीबन सभी कार्यालय ऐसे हैं जिनका हम भाड़ा नहीं देते। अभी हमने एक मुहिम चलायी है कि एक हजार लोगों से एक हजार रुपये इकट्ठे किये जाएंगे। यदि गैर-सरकारी संगठन भी ऐसा करे तो उन्हें किसी देशी-विदेशी संस्था से मदद लेने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

यहां पर कोई यह कह सकता है कि मेधा पाटकर एक चर्चित नाम हो गया है इसलिए लोग उनकी मदद कर सकते हैं, लेकिन सब के साथ यह बात लागू नहीं होती। इस बारे में मेरा कहना है कि बहुत संघर्ष के बाद हमने यह जगह बनायी है। आखिर कोई अपने काम से ही अपनी जगह बनाता है।

हमारे आंदोलन में बहुत गरीब लोग जुड़े हुए हैं। उन्हें कुछ न कुछ आर्थिक मदद देनी ही पड़ती है। ऐसा इसलिए कि किसी गरीब परिवार का कोई व्यक्ति जब आंदोलन से जुड़ता है तो उसका परिवार इससे प्रभावित होता ही है। लोग सोचते हैं कि परिवार का बड़ा लड़का परिवार की आर्थिक मदद करेगा, लेकिन यदि वह आंदोलन से जुड़ जाता है तो जाहिर है कि उसके परिवार में आर्थिक दिक्कतें आती हैं। ऐसे में हमारी कोशिश रहती है कि कम से कम उसका भार परिवार को न उठाना पड़े। इस कारण लोगों को कहीं न कहीं पैसे का स्रोत ढूँढना पड़ता है।

देशी या विदेशी पैसा लेने और न लेने के संबंध में दूसरी बात यह है कि सत्ता में बैठे हुए जो लोग विदेशी पैसों की आलोचना करते हैं उनकी बात माननी नहीं चाहिए। ये लोग खुद भीख का कटोरा लेकर घूम रहे हैं। उन्हें ऐसा कहने का कोई नैतिक अधिकार नहीं है।

कुछ पैसा ऐसा भी है जो विश्व बंधुत्व के रिश्ते से आता है। उदाहरण के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ की अनेक परियोजनाएं चलती हैं। विश्वविद्यालय और कालेज के अध्यापक अध्यापन के अलावा कई तरह के शैक्षणिक परियोजनाएं चलाते हैं। उन्हें विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यू.जी.सी.) से वेतन मिलता है। अब सवाल यह है कि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का पैसा कहां से आता है? इसी तरह कर्पाट सरकार की संस्था है, उसे भी विदेशों से पैसा मिलता है। उन पैसों को वह यहां देती है। अब कर्पाट के पैसों को देशी पैसा माना जाता है। इस तरह अब देशी और विदेशी पैसों के बीच कोई फर्क नहीं रहा। आज स्थिति यह है कि जिस सड़क पर हम चल रहे हैं वह भी विदेशी है और जिस बस में सफर कर रहे हैं वह भी विदेशी है। देश की सरकार तो विदेशी ऋण पर ही चल रही है।

आज भारत में गैर-सरकारी संगठन अपनी भूमिका का निर्वाह ठीक तरह से कर रहे हैं। यदि ऐसा नहीं करते तो उनका अस्तित्व ही समाप्त हो गया होता। गरीबों की बात, परिवर्तन की बात ये ठीक तरह से उठा रहे हैं। उन कागजी गैर-सरकारी संगठनों की बात मैं नहीं कर रही हूं जिन्हें नेताओं और नौकरशाहों ने खड़े किये हैं। सच पूछिये तो गैर-सरकारी संगठन एक वैकल्पिक मीडिया के तौर पर वैकल्पिक सर्वेक्षण कर रहे हैं। कई क्षेत्रों में नवाचार कर रहे हैं। शिक्षा-पद्धति, लोकतंत्र, नीति निर्माण आदि महत्वपूर्ण मसलों पर सार्थक कार्य कर रहे हैं। यह महत्वपूर्ण योगदान है। संघर्ष करने वाले जन संगठनों का आम लोगों के साथ निरंतर संपर्क बना रहता है। उनका व्यापक आधार नहीं है लेकिन लोगों के संघर्ष के साथ जुड़कर वे कारगर सहयोग करते हैं।

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि गैर-सरकारी संगठन सरकार का विकल्प बन जाय या विकल्प बन जाना चाहिए। सरकार का काम सरकार को करना चाहिए। गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका सृजनशीलता और सामाजिक नेतृत्व की है, परिवर्तन लाने की है और इस सिलसिले में आवश्यक प्रदर्शनकारी (डिमांस्ट्रेटिव) कार्य करने की है।

स्वयंसेवी संस्थाएं

प्यारे मोहन त्रिपाठी

स्वैच्छिक कार्य मूलतः मनुष्य की स्वतंत्रता की खोज की अभिव्यक्ति है। सांसारिक कार्य-व्यापार में यह स्वतंत्रता विभिन्न प्रकार की जरूरतों- भोजन, आवास, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि से संबंधित समस्याओं के समाधान में अभिव्यक्त होती हैं। यदि आज कोई भूखा है और कल वह अपने या किसी स्वैच्छिक संस्था के प्रयास से भोजन प्राप्त कर लेता है तो उसे भूख से मुक्ति मिल जाती है। यह बुनियादी बात यदि ध्यान रहे तो स्वैच्छिक कार्य मूलतः मनुष्य या मानव समाज की स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में देखें तो हमारे यहां स्वैच्छिक कार्य की तीन मुख्य धाराएं थीं। एक महात्मा गांधी की रचनात्मक कार्य की धारा थी। दूसरी धारा ईसाई मिशनरियों की थी जो स्वतंत्रता संग्राम के काफी पहले से स्वास्थ्य और शिक्षा के क्षेत्र में सक्रिय थी। राम कृष्ण मिशन जैसे कुछ अन्य संस्थाओं ने भी इस क्षेत्र में काम किया। इनके अलावा तरह-तरह के नागरिक समूह भी थे। गांधी जी का रचनात्मक कार्य आजादी की लड़ाई का एक अविभाज्य अंग था। उन्होंने देखा कि ब्रिटिश सरकार यहां से कच्चा माल अपने यहां ले जा रही है और इससे तरह-तरह की चीजें निर्मित करके यहां के बाजार में बेच रही हैं। इससे हमारे उद्योग-धंधे खत्म हो रहे हैं। लोग बेरोजगार हो रहे हैं। तब उन्होंने खादी, कताई, बुनाई आदि काम पर जोर दिया। पहले इनसे संबंधित छोटी-छोटी संस्थाएं थीं। गांधी जी के प्रयास से इन संस्थाओं का राष्ट्रीय स्वरूप बना और अखिल भारतीय चरखा संघ, अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ आदि की स्थापना हुई।

1947 में जब देश आजाद हुआ तब ज्यादातर कांग्रेसी और स्वतंत्रता सेनानी केंद्र और राज्यों की सत्ता में चले गये। एक छोटा सा समूह जो गांधी जी के प्रति ज्यादा समर्पित था वह सत्ता में नहीं गया। उसने सोचा कि समाज के आम आदमी के कंधे से कंधा मिलाकर राष्ट्र का नव निर्माण किया जाय। 1947 के बाद भी गांधी जी के पथ पर चलने वाला यह स्वैच्छिक समूह आज भी सक्रिय है। चिपको, टेहरी, नर्मदा बचाओ आदि आंदोलन गांधीवादी नहीं होते हुए भी गांधीवादी धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसी तरह ईसाई मिशनरियों का भी काम बढ़ा। पहले ये केवल शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में काम करते थे अब अन्य क्षेत्रों में भी काम करने लगे हैं। चर्च के अलावा कुछेक अन्य संगठन भी बने जो अपने को विकास की संस्था कहते हैं। ये संस्थाएं ईसाई मिशनरियों से प्रभावित हैं। सिखों और मुसलमानों की संस्थाएं भी विकसित हुईं। इनके अलावा एक अन्य धारा भी फूटी जो काफी व्यापक है। ये समाजवादी, वामपंथी और नक्सलवादी धाराएं राजनीतिक विचारधारा से प्रभावित हैं।

सच तो यह है कि अभी तक किसी को ठीक-ठीक पता नहीं है कि भारत में कितनी स्वैच्छिक संस्थाएं हैं। एक अनुमान के मुताबिक यहां तकरीबन दस लाख रजिस्टर्ड गैर सरकारी संगठन हैं। गैर सरकारी संगठनों का रजिस्ट्रेशन पांच अलग-अलग कानूनों के तहत होता है। इसके कार्यकलाप भी अलग-अलग हैं। इन गैर सरकारी संगठनों की सूची एक जगह उपलब्ध नहीं है। इसलिए इनकी निश्चित संख्या बतलाना मुश्किल है। गैर सरकारी संगठनों की सबसे बड़ी सूची गृह मंत्रालय के पास है जिसमें 25 हजार संगठनों का उल्लेख है। कुछ जगहों पर और भी सूचियां हैं। उदाहरण के लिए पश्चिम बंगाल राज्य सरकार की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार 70 हजार संस्थाएं एकाउंट फाईल करती हैं। मेरे विचार में 60-65 हजार संस्थाएं किसी ने किसी रूप में सक्रिय हैं शेष निष्क्रिय हैं। फिर भी यह कहा जा सकता है कि भारत में स्वैच्छिक कार्य काफी सशक्त हैं। लेकिन पिछले सालों के दौरान जैसे-जैसे स्वैच्छिक कार्य को सराहा जाने लगा, उनकी प्रशंसा की जाने लगी, उनके पास साधन भी ठीक-ठाक आने लगे वैसे-वैसे नकली स्वैच्छिक संस्थाओं की बाढ़ भी आने लगी। उनको रोकने का कोई सक्षम तरीका भी समझ में नहीं आता सिवाय इसके कि मूल्य आधारित स्वैच्छिक कार्य के

पक्षधर कोशिश यह करते हैं कि ऐसे लोगों से दूर रहा जाय। वस्तुतः सरकारी विभागों में भी धांधलियां बढ़ी है। लेन-देन की संस्कृति भी शुरू हो गयी है। इसके चलते गलत लोग वहां जाने लगे हैं। कमीशन देकर प्रोजेक्ट्स प्राप्त करने लगे हैं।

पिछले वर्षों कुछेक स्वैच्छिक संस्थाओं की काली सूची भी जारी की गयी है। लेकिन विडम्बना यह है कि काली सूची सरकारी की दो ऐसी संस्थाओं ने बनायी जो खुद इतनी काली है कि कोई कल्पना नहीं कर सकता। पहली काली सूची 'कपार्ट' ने बनायी। कपार्ट के बारे में खुला रहस्य है कि उनके यहां कमीशन लेकर प्रोजेक्ट्स दिये जाते हैं। इसी क्रम में उन्होंने 564 संस्थाओं की एक काली सूची जारी की थी। जब इस पर सवाल उठाये गये तो पूरे मामले की छानबीन के लए तीन व्यक्तियों की एक कमिटी बनायी गयी। कमिटी के सदस्यों ने जब कागजात देखे तो पता चला कि 564 में से केवल 20 संस्थाओं की फाईल पर उनके खिलाफ कुछ लिखा गया था। शेष 544 के खिलाफ कोई मामला नहीं था। इसी तरह दूसरी संस्था है— सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय। यहां बिना लेन-देन के कुछ काम हो ही नहीं सकता। उन्होंने भी एक काली सूची जारी की थी। इसी तरह एक और उदाहरण देना चाहता हूं जो काफी दिलचस्प है। योजना आयोग स्वयंसेवी संस्थाओं का श्रेणीकरण कराना चाह रहा था। श्रेणीकरण करने वाली संस्था थी— 'कैफ' (चैरिटी एंड फाउंडेशन)। इसका मुख्यालय लंदन में है। लोगों को ताज्जुब होगा कि यह संस्था तब दो साल पुरानी रही होगी। हमने इस संस्था के खिलाफ योजना आयोग को एक कड़ा पत्र लिखा था। सबसे बड़ी आपत्ति यह थी कि इस विदेशी संस्था ने अपने लेटर हेड पर भारत सरकार के इंबेलम का इस्तेमाल किया था, सच यह भी है कि उसके पास भारतीय संस्थाओं का श्रेणीकरण करने की योग्यता भी नहीं थी।

भारत के गैर-सरकारी संगठनों में अंतर्निहित अनेक कमजोरियों के बावजूद मैं जोर देकर कहना चाहूंगा कि हमारे देश में स्वैच्छिक कार्य पिछले पचास साल के दौरान हर प्रकार से

समृद्ध हुआ है। कई अनेक क्षेत्र में स्वैच्छिक संस्थाएं सक्रिय हुई हैं। गरीब लोगों का संगठन है— स्व सहायता समूह। यह स्वैच्छिक संस्थाओं की खोज है। स्वैच्छिक संगठनों के बहुआयामी होने की कई वजहें हैं। पहली बात तो यह है कि सरकारी तंत्र के कमजोर और अक्षम होने के चलते जो जगह खाली हुई उसको भरने के लिए स्वैच्छिक कार्य की आवश्यकता बढ़ी। दूसरी बात यह है कि जनता में यह चेतना जागृत हुई है कि दूसरों पर निर्भर रहने के बजाय अपना काम खुद करना चाहिए। फिर तीसरी बात यह है कि सरकार के मुकाबले स्वैच्छिक संगठनों में भ्रष्टाचार कम और पारदर्शिता, जवाबदेही ज्यादा है, इससे समाज में स्वैच्छिक कार्य को बल मिला।

स्वैच्छिक कार्य के विस्तार और विकास में भारत का लोकतांत्रिक ढांचा भी एक बड़ा कारण रहा है। सरकार स्वैच्छिक संस्थाओं के कार्य में समय-समय पर कठिनाइयां भी पेश करती रही हैं। इसके बावजूद यहां स्वैच्छिक कार्य निरंतर आगे बढ़ा है। तीसरी दुनिया के अन्य देशों में स्वैच्छिक कार्य के लिए वातावरण ज्यादा अनुकूल नहीं है। कुछेक स्वैच्छिक संस्थाएं प्रतिस्पर्द्धा के चलते भी आगे बढ़ीं। जिन क्षेत्रों में ईसाई मिशनरियां थीं वहां राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्यकर्ताओं का प्रवेश हुआ। स्वैच्छिक कार्य को आगे बढ़ाने में जन आंदोलनों और प्राकृतिक आपदाओं ने भी बड़ा योगदान दिया है। विनोबा भावे का भू-दान, ग्राम दान आंदोलन, जय प्रकाश नाराण का आंदोलन, नक्सल और समाजवादी आदि आंदोलनों से स्वैच्छिक कार्य का मार्ग प्रशस्त हुआ। अनेक लोगों को जब सत्ता से मोहभंग हुआ तब इन आंदोलनों के जरिये वे स्वैच्छिक कार्य से जुड़े। बिहार में भीषण अकाल से पीड़ित लोगों को राहत पहुंचाने का काम हुआ। इसके बाद अनेक संस्थाएं बनीं। राहत कार्य में लगे लोग विकास के काम में लग गये। आंध्र का तूफान, अनेक राज्यों में आये भूकंप आदि से अनेक संस्थाएं उभरीं।

स्वैच्छिक संस्थाओं में तीन तरह के काम होते हैं। पहला लोक कल्याणकारी काम जो बदलाव मूलक नहीं होता बल्कि करुणा से प्रेरित होकर छोटे-छोटे दुखों को दूर करता है। दूसरा,

विकास से जुड़े काम के तहत कल्याण से थोड़ा आगे बढ़कर काम किया जाता है और तीसरा बदलाव मूलक काम है। यह आवश्यक नहीं कि इसके लिए अलग-अलग संस्थाएं हों। कुछेक संस्थाएं केवल कल्याणकारी, कुछेक केवल बदलाव मूलक और कुछेक केवल विकास से संबंधित कार्य करती हैं। मेधा पाटकर रचनात्मक नहीं केवल आंदोलनात्मक कार्य करती हैं। पर ईला भट्ट की 'सेवा' बदलाव मूलक दृष्टि से सर्वोत्तम संस्था है पर एक ही साथ तीनों काम करती है। हमारी संस्था 'अवार्ड' मूलतः विकास की संस्था है पर हमने राहत का भी काम किया है।

आजकल गैर सरकारी संगठनों के संदर्भ में विदेशी फंडिंग का मुद्दा काफी चर्चा में रहता है। पिछले कुछेक वर्षों के दौरान हमारे यहां विदेशी पैसों का प्रवाह भी काफी बढ़ा है। 1979 में प्रकाशित वोलेनटेरी एक्शन की रिपोर्ट के मुताबिक तब स्वैच्छिक संगठनों को तकरीबन 100 करोड़ रुपया विदेशों से आता था। 1998-99 के रिपोर्ट के मुताबिक यह धनराशि बढ़कर 3 हजार 500 करोड़ रुपये हो गयी है। इस धनराशि का एक बड़ा हिस्सा धार्मिक संगठनों के लिए आता है। पिछले साल सबसे बड़ी रकम साईं बाबा की संस्था को प्राप्त हुई है। इस विदेशी पैसे का लगभग आधा हिस्सा दक्षिण के चार राज्यों को जाता है। ऐसा इसलिए कि दक्षिण भारत में ईसाई मिशनरियों की उपस्थिति काफी सशक्त है। इस्लामिक मदरसे और सिखों के संगठनों के पास भी विदेशों से पैसा आता है। अब तो संघ परिवार की संस्था विश्व हिन्दू परिषद के पास भी बाहर से पैसा आता है।

धर्म निरपेक्ष स्वैच्छिक कार्य के लिए बाहर से बहुत कम पैसा आता है। कुल विदेशी फंडिंग का महज 20 प्रतिशत इसके हिस्से में आता है। गांधी शांति प्रतिष्ठान जैसी संस्था विदेश की तो बात छोड़िये अपने देश की सरकार से भी अनुदान नहीं लेती। ये कहते हैं सरकारी धन से हमारी स्वतंत्रता बाधित होगी।

यह सवाल अक्सर खड़ा किया जाता है कि स्वैच्छिक संगठनों को बाहर का पैसा नहीं लेना चाहिए। मेरी राय में सर्वोत्तम स्थिति तो यह होगी कि बाहर से पैसा न लिया जाय। पर आज हमारे यहां की स्थिति थोड़ी बदल गयी है। एक बात यह है कि सरकार के साधन निरंतर कम हो रहे हैं। अब तो हमारी सरकार भी विदेशी साधनों से चल रही है। स्वैच्छिक संस्थाओं की विश्वसनीयता सरकार से कम नहीं है। ऐसे में स्वैच्छिक संस्थाएं यदि बाहर से पैसा लेती हैं तो क्यों हल्ला मचाया जाता है। यह कहा जा सकता है कि विदेशी पैसे से स्वैच्छिक कार्य में बहुत अच्छे-अच्छे प्रयोग हो रहे हैं। गलत नियत से भी बाहरी पैसा आता होगा पर इसमें सहायता का अंश ज्यादा है। इसी के साथ एक और बात जुड़ी है। हमारे देश में पहले स्वैच्छिक कार्य सन्यासी, और करोड़पति लोग किया करते थे। सन्यासी की अपनी आवश्यकता बहुत कम थी और करोड़पति को पैसों की जरूरत ही नहीं थी। अब निम्न मध्य वर्ग के लोग स्वैच्छिक कार्य में ज्यादा है। ये लोग पूर्णकालिक होते हैं। अब सवाल उठता है कि ऐसे लोग अपना निर्वाह व्यय नहीं लें तो कैसे काम चलेगा। यदि ये निर्वाह व्यय लेते हैं तो इसमें लज्जा और अनुचित बात नहीं है। इसी के साथ स्वैच्छिक संस्थाओं की वेतन-संरचना भी जुड़ी हुई है। जितनी तरह की संस्थाएं हैं उतनी तरह की वेतन-संरचना (सैलेरी स्ट्रक्चर) है। गांधीवादी संस्थाओं में बहुत कम वेतन मिलता है। कहीं-कहीं 500-700 रुपये ही मिलते हैं। ईसाई मिशनरियों के पास साधन बहुत हैं। भारत में बहुत कम संस्थाएं ऐसी हैं जिनका वेतनमान बहुत अच्छा है।

स्वैच्छिक संस्थाओं के संदर्भ में आचार-संहिता का मुद्दा भी हमेशा बहस के केंद्र में रहा है। स्वैच्छिक संस्थाओं में आचार संहिता होनी चाहिए और है भी। पर यह आचार संहिता स्वैच्छिक होनी चाहिए। सरकार कोई आचार-संहिता बनाकर स्वैच्छिक संस्थाओं पर बलात थोप दे, यह उचित नहीं होगा, ऐसा नहीं होना चाहिए। मुक्त वातावरण में ही स्वैच्छिक कार्य फलता-फूलता है। बाहर का नियंत्रण जितना होगा यह उतना पंगु होगा।

1985-86 के आस-पास सरकार ने एक चाल चली थी। उस समय 'पेडी' (पीपुल्स एक्शन फॉर डेवलपमेंट इंडिया) था, कपार्ट बाद में बना। पेडी और स्वैच्छिक संस्थाओं के लोगों को मिलाकर एक टीम बनी थी जिसमें बंकर राय भी थे। उनकी पहल पर आचार संहिता बनाने पर जोर दिया गया। पर इसका खूब विरोध हुआ और बंकर राय अलग-थलग पड़ गये। विरोध का मूल आधार यह था कि सरकार स्वैच्छिक संगठनों के लिए आचार-संहिता बनाने वाली कौन होती है। वी.पी. सिंह की सरकार के समय भी आचार्य राम मूर्ति ने आचार संहिता बनाने के सवाल पर जोर दिया था। मैं उनका बहुत आदर करता हूँ पर इस सवाल पर मैंने उनसे पूछा कि क्या बात है हमारे बीच का जब कोई प्रधानमंत्री के करीब होता है वह आचार-संहिता बनाने की बात करने लगता है। बंकर राय ने राजीव गांधी के सानिध्य का लाभ लेकर आचार-संहिता बनाने पर जोर दिया था और अब आप जोर दे रहे हैं। आपकी अपनी आचार-संहिता जितनी कठोर है क्या उससे भी कठोर यह हो सकती है? उनको मेरी बात समझ में आ गयी और वे चुप हो गये।

आने वाले दिनों में स्वैच्छिक संस्थाओं की भूमिका और महत्वपूर्ण होगी। स्वतंत्रता मनुष्य का परम लक्ष्य है। इसलिए स्वैच्छिक कार्य मुक्त और लोकतांत्रिक समाज का आवश्यक अंग है। इतना जरूर है कि नकली संस्थाओं पर रोक लगाना आवश्यक है। आने वाले दिनों में पंचायतें सशक्त होंगी तो नकली संस्थाओं पर अंकुश भी लगाएगी। मुझे लगता है कि स्वैच्छिक कार्य में लगे लोग अपनी आजीविका के लिए दूसरे कामों में लगे और स्वैच्छिक संस्थाओं में अंशकालिक कार्य करें, इससे खर्च भी घटेगा। इसी के साथ स्वैच्छिक संस्थाओं को शिक्षक, प्रशिक्षक और मित्र के रूप में कार्य करना चाहिए, कर्ता के रूप में नहीं। संस्थाओं से जुड़े लोग अपनी भूमिका के बारे में पुनर्विचार कर जितना जल्द कर्ता से शिक्षक-प्रशिक्षक बनेंगे तो उतना ही अच्छा होगा।

भारत के सामाजिक विकास में स्वयंसेवी संस्थाओं का योगदान

राजेश टंडन

हमारे देश में स्वैच्छिक संगठनों ने सामाजिक विकास में स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान से ही अग्रणी भूमिका निभा रखी है। दयानंद आर्य वैदिक विद्यालयों की समूचे देश में विद्यमान शृंखला इसकी एक अनूठी मिसाल है। समाज में शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार में डी.ए.वी. विद्यालयों के योगदान से सभी लोग भली भांति परिचित हैं। स्वैच्छिक संगठन समाज के हर क्षेत्र में कार्यरत हैं। धार्मिक स्वैच्छिक संगठन से लेकर कट्टर वामपंथी संगठन अपने-अपने अंदाज में सामाजिक विकास की प्रक्रिया में सक्रिय हिस्सेदारी निभा रहे हैं।

स्वैच्छिक संगठनों का संस्थागत विकास 1965-66 के दौरान हुआ। इस दौरान समाज के जागरूक वर्ग में यह बात पनपने लगी कि राजनीतिक क्षेत्र से अलग समाज के विकास के अन्य विकल्प खोजे जाएं। क्योंकि सरकारी कार्यक्रम समाज के सर्वांगीण विकास में सफल नहीं हो रहे थे और गैर सरकारी स्तर पर प्रयास की जरूरत महसूस की गयी। स्वैच्छिक संगठनों को आपातकाल के बाद जिन कारणों से प्रोत्साहन मिला उनमें से मुख्य यह है कि आपात काल के विरोध में युवक/युवतियों का जो वर्ग सक्रिय था, उनमें से कई लोगों ने गैर राजनीतिक रास्ता अपनाया। चूंकि यह वर्ग समाज के रचनात्मक विकास के लिए प्रतिबद्ध था, इसलिए इसने स्वैच्छिक स्तर पर समाज के विकास के नये-नये रास्ते खोजने शुरू किये। इन लोगों के प्रयास को जनता सरकार की कई नीतियों से बल मिला। उदाहरणार्थ जनता सरकार ने ग्रामीण विकास के लिए समेकित ग्रामीण विकास योजना (इन्टीग्रेटेड रूरल डवलपमेंट प्रोग्राम) शुरू की। इस योजना के तहत ग्रामीण विकास के कार्यक्रमों में स्वैच्छिक संगठनों की सक्रिय हिस्सेदारी को मान्यता दी गयी। यद्यपि इस योजना के तहत सरकारी कार्यक्रमों में स्वैच्छिक संगठनों की हिस्सेदारी को वैधता दी गयी थी परंतु उनकी हिस्सेदारी सीमित रखी गयी। इसके बाद धीरे-धीरे समाज कल्याण की विभिन्न योजनाओं में स्वैच्छिक संगठनों की

हिस्सेदारी बढ़ती गयी। वर्ष 1985-86 के आते-आते स्वैच्छिक संगठन सामाजिक विकास कार्यक्रमों के अभिन्न अंग इस स्तर पर बन गये कि ग्रामीण विकास मंत्रालय ने 1985 में लोक कार्यक्रम और प्रौद्योगिकी विकास परिषद (कपार्ट) की स्थापना की। कपार्ट को भी स्वयं सेवी संस्था के तहत ही पंजीकृत किया गया है।

स्वैच्छिक संगठनों की भूमिका समूचे विश्व स्तर पर बढ़ती जा रही है। भारत में भी स्वैच्छिक संगठनों का कार्य क्षेत्र बढ़ा है। और स्वैच्छिक संगठनों ने सामाजिक विकास में अहम भूमिका निभायी है। विकास कार्यक्रमों के अलावा जागरूकता फैलाना, धार्मिक एवं सामाजिक कुरीतियों का विरोध करना आदि क्षेत्रों में भी स्वैच्छिक संगठन अग्रणी भूमिका निभा रहे हैं। बंधुआ मुक्ति आंदोलन, बाल श्रमिकों का मुद्दा, पर्यावरण का मुद्दा, स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता आदि क्षेत्रों में स्वैच्छिक संगठनों ने अहम भूमिका अदा की है। यह कहा सकता है कि एकमात्र स्वैच्छिक संस्थाओं के प्रयत्न से ही बंधुआ मुक्ति एवं बाल श्रम का सवाल राष्ट्रीय मुद्दा बन सका। पर्यावरण के प्रति जागरूकता में इन संगठनों की भूमिका को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। बड़े बांध बनाम छोटे बांध के बहस में भी इनकी भूमिका महत्वपूर्ण रही है।

समाज कल्याण की कई योजनाओं के सूत्रधार भी यही संगठन रहे हैं। गरीब एवं असहाय लोगों को प्राथमिक शिक्षा मुहैया करना, चिकित्सा संबंधी आवश्यक सेवा देना और सूदूर गांवों में आवागमन की सुविधा पहुंचाना आदि क्षेत्रों में तो जनता एवं सरकार, स्वैच्छिक संगठनों के योगदान को मानती ही है। स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार तकनीक का विकास एवं उसके उपयोग के क्षेत्र में स्वैच्छिक संगठन अग्रणी रहे हैं। मसलन पश्चिमी प्रांत जैसे महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान एवं दक्षिण के कई राज्यों में वाटरशेड परियोजना का सफलतापूर्वक प्रयोग स्वैच्छिक क्षेत्र ने ही किया है। जिससे पानी की कमी वाले कई इलाके हरे-भरे हुए हैं। आदिवासियों एवं हरिजनों को विकास प्रक्रिया से जोड़ने में भी स्वैच्छिक संगठन आगे रहे हैं। प्रजातंत्र को ग्रामीण स्तर तक जीवंत बनाने में भी स्वैच्छिक संगठन कार्यरत है। पंचायती राज

व्यवस्था को मजबूत करने और ग्राम सभा के सदस्यों को जागरूक करने का अभियान स्वैच्छिक संगठनों ने शुरू किया है।

स्वतंत्रता के बाद आर्थिक विकास ने जो स्वरूप अख्तियार किया उसने ग्रामीण इलाकों को विकास की मुख्य धारा से अलग-थलग कर दिया और बहुसंख्यक समाज चन्द लोगों के बताए रास्ते पर चलने के लिए बाध्य कर दिया गया। स्वैच्छिक संगठनों ने इन विसंगतियों को पाटने की कोशिश की। सरकार ही 'माई-बाप' है की अवधारणा को कुछ हद तक तोड़ने में ये संगठन सफल रहे हैं। इसके लिए स्वैच्छिक संगठनों को काफी प्रयास करना पड़ा, क्योंकि आम आदमी विकास के बारे में सोचने से ही कतराता था। लोगों में यह धारणा व्याप्त थी कि विकास के बारे में सोचने का काम नौकरशाही का है या राजनेताओं का है। और नौकरशाहों ने भी ग्रामीणों के समृद्ध पारंपरिक ज्ञान को कभी तरजीह नहीं दी। विकास की तथाकथित आधुनिक अवधारणा के तहत नौकरशाही अपने ही ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ मानते हुए स्थानीय विशिष्टाओं को नजरअंदाज करती रही। नतीजतन विकास आम आदमी तक नहीं पहुंच पाया।

विकास की प्रक्रिया को सुदूर गांवों तक ले जाने एवं आम जनता को विकास की प्रक्रिया से जोड़ने का काम स्वैच्छिक संगठनों ने अपने-अपने स्तर पर किया। यही नहीं ग्रामीणों के परंपरागत ज्ञान का उपयोग उन्हीं के विकास के लिए करने की पहल भी इसी क्षेत्र के द्वारा हुई है। इसका सुखद फल भी प्राप्त हुआ है। पश्चिमी राज्यों में वाटरशेड परियोजना की सफलता का मुख्य कारण परंपरागत ज्ञान एवं तकनीक का उपयोग विकास के लिए किया गया है। जिसको नौकरशाही हमेशा नजरअंदाज करती रही थी।

नौकरशाह जिन मुद्दों की अनदेखी करते आये हैं और जो मुद्दे नितांत स्थानीय होने के साथ-साथ अति महत्वपूर्ण होते हैं, उनके समुचित समाधान से ही विकास संभव है। और इस प्रकार के मुद्दों का हल स्थानीय लोगों की जानकारी का उपयोग करने एवं उनकी सक्रिय

हिस्सेदारी को बढ़ावा देने से ही संभव है। साथ ही स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार तकनीक के विकास एवं प्रसार से ही विकास की प्रक्रिया घर-घर तक पहुंचायी जा सकती है और आम आदमी इससे लाभांविता हो सकता है। स्वैच्छिक संगठनों ने इस क्षेत्र में सराहनीय काम किया और स्थानीय जरूरतों के अनुसार तकनीक के विकास में अग्रणी भूमिका निभायी है। उनके द्वारा विकसित तकनीक को राष्ट्रीय स्तर पर भी अपनाया गया है।

स्वैच्छिक संगठनों द्वारा प्रशासनिक कार्यों में ज्यादा खर्च करने की बात सही नहीं है। क्योंकि किसी भी परियोजना को चलाने के लिए कर्मचारियों की जरूरत पड़ती है और कर्मचारियों को वेतन पर ही रखा जा सकता है। स्थानीय अकुशल कार्यकर्ताओं को वेतन कम भी दिया जा सकता है लेकिन कुशल कारीगरों एवं कर्मचारियों को तो पूरा एवं मान्य वेतन देना ही पड़ता है। मसलन यदि कोई स्वैच्छिक संगठन गरीब लोगों के बच्चों के लिए स्कूल चलाता है तो स्कूल चलाने में ज्यादा खर्च प्रशासनिक श्रेणी में ही आयेगा। क्योंकि स्कूल में अध्यापकों एवं अन्य स्टाफ को प्रतिमाह वेतन देना होगा। यद्यपि यह खर्च प्रशासनिक श्रेणी में आता है, फिर भी इसे उत्पादक श्रेणी से अलग नहीं किया जा सकता है। यह भी एक तथ्य है कि किसी भी परियोजना में एक बार ही इन्फ्रास्ट्रक्चर में खर्च होगा बाद में तो महज रख-रखाव का खर्च ही होगा। ज्यादा खर्च स्वाभाविक तौर पर प्रशासनिक श्रेणी में ही होगा। इसी संदर्भ में एक और उदाहरण देना उचित होगा। एक स्वैच्छिक संगठन शोध के क्षेत्र में कार्यरत है, उसके खर्च का ज्यादा हिस्सा प्रशासनिक खर्च की श्रेणी में ही आयेगा। क्योंकि इस संगठन का बिल्डिंग बनाने में खर्च एक बार ही होगा। बाद में शोधार्थियों को वेतन के रूप में दी जाने वाली राशि भी प्रशासनिक खर्च की ही श्रेणी में आयेगा। इसका अर्थ यह नहीं कि यह स्वैच्छिक संगठन अपने बजट का ज्यादा हिस्सा प्रशासनिक मद में खर्च करता है।

जहां तक स्वैच्छिक संगठनों के द्वारा फिजूल खर्ची का मामला है, इसे महज बे-वजह की भ्रांति ही करार दिया जा सकता है यदि स्वैच्छिक संगठनों के कार्यकर्ता अपने कार्य को करने

के लिए जीप या कार से आते-जाते हैं तो इसे फिजूल खर्च की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है। क्योंकि सरकारी परिवहन व्यवस्था दूर-दराज इलाकों में इतनी लचर है कि उनके भरोसे तो कोई काम करना बहुत कठिन है यदि वाहनों एवं आवाजाही पर खर्च किसी उद्देश्य को लेकर है तो उसे गलत नहीं माना जा सकता है। उदाहरण के तौर पर यदि केंद्रीय रक्षा मंत्री कारगिल या अन्य सीमा चौकियों पर जाने में रक्षा विमान का प्रयोग करता है और इस प्रक्रिया में रक्षा मंत्रालय का बहुत ज्यादा खर्च आता है तो इस खर्च को अनुचित नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार यदि स्वैच्छिक संगठन के कार्यकर्ता अपनी परियोजना विशेष के कार्य के लिए वाहनों का इस्तेमाल करते हैं तो इसे फिजूल खर्च की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है। इस मुद्दे को ज्यादा स्पष्ट इस तरह भी किया जा सकता है कि जैसे कोई सरकारी अधिकारी विकास कार्यक्रम पर पूरी निगाह रखने के लिए बार-बार सरकारी मशीनरी को प्रयोग में लाता है तो उसमें कोई हर्ज नहीं है। यही बात स्वैच्छिक संगठनों के कार्यकर्ताओं पर भी लागू होती है।

मैं इस बात से भी सहमत नहीं हूँ कि स्वैच्छिक संगठनों में भ्रष्टाचार व्याप्त है। सर्व प्रथम एक बात यह गौर करने लायक है कि स्वैच्छिक संगठन के कार्यकर्ता भी इसी समाज से आते हैं और जब समाज में हर तरफ भ्रष्टाचार का बोलबाला हो तो स्वैच्छिक संगठन इससे अछूते कैसे रह सकते हैं? उदाहरण के तौर पर हरियाणा के गांव से आने वाला स्वैच्छिक संगठन का कार्यकर्ता 24 घंटों में से 16 घंटे तो अपने परिवेश में ही रहता है। स्वैच्छिक संगठन के साथ तो वह मात्र 8 या 10 घंटे ही रहता है। यह स्वाभाविक है कि यह कार्यकर्ता अपने परिवेश के गुणों एवं अवगुणों से ज्यादा प्रभावित रहेगा। और अपने साथ वह जातिवाद, वर्णवाद एवं क्षेत्रीयता को लेकर चलेगा। उससे एकाएक यह उम्मीद करना कि वह इन सब कारकों के प्रभाव को भूल जायेगा, बेमानी होगी। फिर भी स्वैच्छिक संगठनों का यह प्रयास रहता है कि वे एक ऐसा माहौल बनाकर रखें जिसमें जाति, धर्म, सम्प्रदाय आदि के लिए कोई गुंजाइश न रहे। लेकिन जिस प्रकार के बदलाव की उम्मीद आम जनता करती है, वह एकाएक संभव नहीं है।

भ्रष्टाचार का दूसरा पहलू यह है कि यह स्वैच्छिक संगठनों के बारे में भ्रम पैदा कर रहा है। स्वैच्छिक संगठन किसी स्थान विशेष या मुद्दे पर काम करता है तो उसके लिए प्रोजेक्ट तैयार करता है। प्रोजेक्ट के तहत मैथोडोलॉजी से लेकर बजट का समावेश रहता है और बजट स्पष्ट रहता है कि किस मद में कितना पैसा खर्च होगा? ओवरहेड चार्जेज भी तय रहता है। इसके अलावा आयकर विभाग किसी भी स्वैच्छिक संगठन के लेखा-जोखा विवरण का निरीक्षण करता है। इस सबके बावजूद यदि स्वैच्छिक संगठनों में भ्रष्टाचार की बात कही जाती है तो मैं इसे महज भ्रम ही कहूंगा।

ग्रामीण स्तर पर काम करने वाले स्वैच्छिक संगठनों ने परियोजना विशेष पर होने वाले खर्च की जानकारी आम आदमी को देने के लिए नई प्रक्रिया ईजाद की है। गांव वालों को महीने की तारीखें याद नहीं रहती हैं, इस कारण पूर्णिमा की रात को ग्राम सभा की बैठक में परियोजना विशेष का लेखा-जोखा सबके सामने रखा जाता है और गांव वालों से उनकी प्रक्रिया मांगी जाती है। इससे परियोजना पर कितना खर्च हो रहा है और सरकारी मदद कितनी मिली है, इसकी जानकारी आम ग्रामीण को रहती है। इस प्रकार की पारदर्शिता में भ्रष्टाचार के लिए कहां गुजाइश रहती है, यह मेरी समझ से बाहर की चीज है।

स्वैच्छिक संगठनों के द्वारा विदेशी सहायता प्राप्त करना और इसके बदले विदेशी हितों के लिए काम करने की बात भी सोलह आने सही नहीं है। क्योंकि भारत सरकार एवं स्वैच्छिक संगठनों का विदेशी सहायता का स्रोत लगभग एक ही है। जहां भारत सरकार की तुलना में स्वैच्छिक संगठनों को मिलने वाली राशि लगभग नगण्य है, इस मुद्दे को बे-वजह तूल दिया जाता रहा है। विशेषकर देश में बढ़ रही पाकिस्तान की इंटर सर्विसेज इंटेलीजेंस की गतिविधियों की वजह से भी यह मुद्दा बल पकड़ता जा रहा है। हकीकत का दूसरा पहलू यह है कि विदेशी सहायता कुछ मुद्दों विशेष के लिए मिलती है और उनके लिए प्रोजेक्ट्स मंगाये जाते हैं। प्रोजेक्ट्स में लागत एवं खर्च का हिसाब स्पष्ट रहता है। इससे यह स्पष्ट है कि

किसी समस्या के निदान के लिए ही विदेशी सहायता मिलती है और इसमें सहायता प्रदान करने वाले के हितों की वकालत करने का सवाल कैसे उठ सकता है। हां इतना जरूर है कि जिस प्रकार छोटे स्तर पर यदि एक धनी व्यक्ति किसी जनकल्याण के काम के लिए सहायता देता है तो उससे अपने को जोड़ना चाहता है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति किसी इलाके में स्कूल या अस्पताल खोलता है तो उस स्कूल या अस्पताल से अपना या अपने पूर्वजों का नाम जोड़ना चाहता है लेकिन उस स्कूल या अस्पताल के कार्य-कलाप में उसकी दखलअंदाजी नाम मात्र की रहती है। इसी प्रकार विदेशी सहायता भी परियोजना विशेष पर अपने नाम की मुहर जरूर लगाना चाहती है। यह भी एक हकीकत है कि विदेशी सहायता प्राप्त करने वालों में अधिकतर धार्मिक संगठन है।

स्वैच्छिक संगठनों के प्रचार एवं प्रसार की वजह से राजनैतिक कार्यकर्ताओं की कमी का मामला साम्यवादी पार्टियां यदा-कदा उठाती रहती हैं। यह एक उलझा हुआ प्रश्न है। क्या पर्यावरण का मुद्दा उठाना और उसके लिए संघर्ष करना तथा समाज कल्याण के कार्यक्रमों में सक्रिय हिस्सेदारी निभाना एवं लोगों को उनके अधिकारों के प्रति जागरूक करना आदि समाज के विकास में सक्रिय योगदान नहीं है? क्या केवल किसी विचारधारा विशेष की राजनीतिक पार्टी के झंडे तले बैनर उठाना ही राजनीतिक चेतना के विकास का परिचायक है? यह एक विचारणीय प्रश्न है, जिस पर गंभीरता से विचार-विमर्श की जरूरत है। साम्यवादियों का यह मत कि विदेशी धन के बलबूते स्वैच्छिक संगठन युवा वर्ग को अपनी तरफ खींच रहे हैं, तथ्यसंगत नहीं है। पूर्व सोवियत संघ के विघटन के बाद जो तथ्य एवं आंकड़े सामने आये, उनसे यह स्पष्ट होता है कि पूर्व सोवियत संघ के द्वारा कितनी वित्तीय सहायता भारतीय साम्यवादी पार्टियों को मिलती थी और इन पार्टियों के कैंडिडों को क्या-क्या सहूलियतें मिलती थी। इस मुद्दे पर निष्पक्ष विचार-विमर्श की जरूरत है और विचारधारा के चश्मे से देखने से यह मुद्दा भ्रम ही पैदा कर सकता है।

यहां तक कि शोध एवं सामाजिक मुद्दों पर विश्लेषणात्मक अध्ययन जैसे क्षेत्रों में भी स्वैच्छिक संगठन आगे आ रहे हैं। पंचायती राज व्यवस्था से प्रजातंत्र की जड़ें किस तरह आम आदमी तक पहुंच रही हैं और इसके रास्ते में क्या-क्या रूकावटें आ रही हैं, आदि ज्वलंत राजनीतिक एवं सामाजिक मुद्दों पर 'प्रिया' (सोसायटी फार पाटीसिपेटरी रिसर्च इन एशिया) ने शोध परक कार्य शुरू किया है। जबकि देश की किसी भी विश्वविद्यालय के राजनीति शास्त्र विभाग ने इस पर अभी शोध करने की पहल नहीं की है। खतरनाक व्यवसायों में कार्यरत मजदूरों के स्वास्थ्य पर पड़ने वाले बुरे प्रभाव का अध्ययन 'प्रिया' कई वर्षों से कर रहा है। इसी प्रकार पर्यावरण विकास आदि मुद्दों पर विभिन्न स्वैच्छिक संगठनों ने गंभीर प्रयास किये हैं, जिनके महत्व को कम कर नहीं आंका जा सकता है।

स्वयंसेवी संस्थान एवं मनुवादी व्यवस्था

रामराज

मनुवादी व्यवस्था में ऊपर से आकर्षण, ईमानदारी, स्पष्टता और स्वच्छता आदि दिखाई देती है, लेकिन इस व्यवस्था के अंदर में घृणा, विश्वासघात, बेईमानी और स्वयंसिद्धि की बात होती है। वर्गीय घृणा और साजिश ऐसी होती है कि ये चीजें काफी मुश्किल से बाहर आती हैं या फिर दिखाई देती हैं। गैर सरकारी संगठन या स्वयंसेवी संस्थाएं, जिन्हें आमतौर पर 'एन.जी.ओ. भी कहा जाता है, इसी मनुवादी व्यवस्था की देन है। स्वयंसेवी संस्थाओं की व्यवस्था और संस्कृति मनुवादी होने के कारण इससे जुड़े लोग भी मनुवादी होते हैं। उनका मनुवादी होना स्वाभाविक है क्योंकि संगठन या संस्था के अनुसार व्यक्ति का लगाव या जुड़ाव होता है। हालांकि कुछ स्वयंसेवी संस्थाएं, खासकर क्रिश्चियन मिशनरी से जुड़ी स्वयंसेवी संस्थाओं को मनुवादी व्यवस्था से अलग हटकर अपवाद के रूप में देखा जा सकता है हमें यह कहने में कोई हिचक नहीं है कि मनुवादियों की नीयत खराब होती है। उनमें ईमानदारी का घोर अभाव होता है, वे किसी भी स्थिति में यह नहीं चाहते कि समाज का कमजोर, तिरस्कृत और अपमानित दलितों, आदिवासियों और पिछड़ों की भलाई हो, उन्हें उचित और समतामूलक अधिकार समाज के द्वारा मिले। देश में करीब एक लाख से ऊपर स्वयंसेवी संस्थाएं भारत सरकार और राज्य सरकारों के पंजीयन विभाग में पंजीकृत हैं और शहरों, कस्बों तथा ग्रामीण क्षेत्रों में कार्यरत हैं। इनकी दशा और दिशा भटकी हुई है। इनका एकमात्र उद्देश्य है— लूटो—खाओ और समाज का 'स्टेटस सिम्बल' बनो।

भारत में प्रायः तीन प्रकार की स्वयंसेवी संस्थाएं कार्यरत हैं या फिर स्थापित हैं। स्थापित इस लिए कह रहा हूं कि कुछ संस्थाएं कागजों पर ही अंकित हैं। इनकी संख्या भी बड़ी है। इनकी फाल्स रिपोर्टिंग और फाल्स बिलिंग होती है। बहरहाल मुख्य विषय पर आते हैं। पहली श्रेणी की वे 'एन.जी.ओ. हैं जो विदेशों से अनुदान लेती हैं और जिनका संपर्क सूत्र विदेशी शासकों

और उनकी फंडिंग एजेंसियों से जुड़ा है। विदेशों से धन प्राप्त कर रही स्वयंसेवी संस्थाओं का मायाजाल बड़ा विस्तृत और तिलिस्मी कहानियों और धारावाहिकों से कम नहीं है। इनकी कार्य संस्कृति ऐसी होती है कि लोग इनसे खुद जुड़ते चले जाते हैं या फिर जुड़ने की कोशिश करते हैं। बड़े-बड़े अधिकारी, व्यापार प्रबंधन और प्रोफेशनल मैनेजमेंट की डिग्रीधारी युवक-युवतियां भी जुड़ने के लिए लालायित रहते हैं। इस प्रकार के एन.जी.ओ. के कार्यालय शहर के पास इलाके में होते हैं। ऐसे एन.जी.ओ. के अध्यक्ष या सचिव देश में नहीं बल्कि विदेशों में रहते हैं। कभी-कभी जरूरत पड़ने पर ही देश में आते हैं। ऐसा मैं इसलिए कह रहा हूं कि इस श्रेणी के एन.जी.ओ. को नजदीक से देखने और इनकी व्यवस्था तथा संस्कृति का विश्लेषण करने का मौका मुझे मिला है। मैं राजस्व सेवा का अधिकारी हूं, अभी छुटी पर हूं। राजस्व सेवा के दौरान बड़ी-बड़ी स्वयंसेवी संस्थाओं (एन.जी.ओ.) और बड़े-बड़े ट्रस्टों के आयकर रिटर्न को जांचने-परखने का काम किया हूं। आयकर रिटर्न में आंकड़ों का खेल इतना शानदार और सूक्ष्मता के साथ खेला जाता है कि उसे पकड़ना मुश्किल नहीं तो कठिन जरूर है। ऊपर से इनका तार सत्ता के गलियारों तक जुड़ा होता है। जब हमने एन.जी.ओ. और ट्रस्टों द्वारा दाखिल आयकर कागजों की छानबीन की तो कई प्रकार की गड़बड़ियां मिली, जिसे सार्वजनिक नहीं किया जा सकता है। सर्विस कोड इस तरह के मामले को सार्वजनिक करने से रोकता है। एक बड़ी और आश्चर्यजनक बात मालूम हुई कि संस्थाओं और ट्रस्टों के अध्यक्ष और सचिव देश में रहते ही नहीं हैं, हमेशा विदेशों में रहते हैं। जरूरत पड़ने पर कभी-कभी इस देश में आते हैं।

दूसरी श्रेणी की वे स्वयंसेवी संस्थाएं एवं ट्रस्ट हैं जो भारत सरकार और देश के बड़े पूंजीपति घरानों द्वारा अप्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष रूप से संचालित और प्रायोजित हैं। सरकार और बड़े पूंजीपतियों द्वारा प्रायोजित और संचालित स्वयंसेवी संस्थाओं और ट्रस्टों की एक बहुत बड़ी संख्या है। इस श्रेणी के एन.जी.ओ. वैचारिक रूप से किसी-न-किसी राजनीतिक दल और जन संगठनों के नजदीक हैं या फिर उनके साथ सहमति का वातावरण बनाकर चल रहे हैं। इस श्रेणी के एन.जी.ओ. की फंडिंग भारत सरकार, राज्य सरकारों और पूंजीपति घरानों से

होती है। सरकारें, राजनीतिक दल और पूंजीपति ऐसे एन.जी.ओ. का इस्तेमाल अपने मक्सद को पूरा करने में करते हैं। बहुत सारी ऐसी संस्थाएं हैं जो सरकार के लिए जासूसी का काम करती हैं। मसलन किसी मुद्दे पर आम लोगों का विचार संग्रहित करना, चुनाव के पूर्व या मध्य में सर्वेक्षण (गुप्त) करना, सरकार की छवि को आम लोगों में बेहतर बनाना, विरोधियों की गुप्त सूचना देना, उनकी छवि को धूमिल करने जैसे कार्य इस श्रेणी की स्वयंसेवी संस्थाएं करती हैं।

तीसरी श्रेणी की वे एन.जी.ओ. हैं जो स्वयं पर आधारित हैं। इनकी फंडिंग न तो विदेशों से होती है और न ही सरकार तथा पूंजीपति घरानों से। इस श्रेणी के एन.जी.ओ. का काम तो बेहतर है और इससे जुड़े लोग ईमानदार भी हैं पर इन्हें सहयोग और प्रोत्साहन नहीं मिलता है। इसके पीछे कारण यह है कि योजनाओं और विचार प्रवाहों की व्यवस्थित और आंकड़ेदार प्रस्तुति में ये काफी पीछे हैं। इस कारण इन्हें सहायता और प्रोत्साहन नहीं मिल पाता है। इसके अलावा इनकी पहुंच भी राजनीतिज्ञों व नौकरशाहों तक नहीं होती है।

एन.जी.ओ. ही नहीं किसी भी जन संगठन, धार्मिक संगठन, राजनीतिक संगठन की एक नियमावली होती है, उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे क्रियाशील होते हैं। एन.जी.ओ. के भी अपने लक्ष्य और उद्देश्य होते हैं हालांकि उद्देश्य और लक्ष्य की बिंदुओं को जानना कठिन है पर आमतौर पर एन.जी.ओ. के उद्देश्य जो जगजाहिर हैं उसके अनुसार हरिजनों—आदिवासियों का उत्थान, उनकी संस्कृति का संरक्षण, उनके संवैधानिक अधिकारों की रक्षा, महिलाओं का विकास, बच्चों का विकास, उनके मौलिक अधिकारों की रक्षा, अंधों—अपाहिजों और अनाथों की सेवा करना, पर्यावरण संरक्षण, कला और संस्कृति का संरक्षण, शिक्षा का प्रचार—प्रसार तथा निरक्षरता को दूर करना आदि है। ऊपरी तौर पर इन्हीं बिंदुओं पर एन.जी.ओ. की पूरी व्यवस्था और कार्य संस्कृति टिकी हुई है। इन्हीं के बदौलत एन.जी.ओ. का अस्तित्व कायम है। विदेशों, भारतीय सरकारों और पूंजीपतियों से पैसा भी इन्हीं उद्देश्यों के लिए मिल रहा है।

अब यहां यह सवाल उठता है कि क्या इन उद्देश्यों में स्वयंसेवी संस्थाएं सफल हैं, मेरे विचार से बिलकुल नहीं। एन.जी.ओ. से जुड़े लोग हरिजनों, आदिवासियों, पिछड़ों, महिलाओं और बच्चों का विकास, पर्यावरण संरक्षण और निरक्षरता को दूर करेंगे? एन.जी.ओ. से जुड़कर लोग खुद की बेरोजगारी को दूर करने में लगे हुए हैं। एन.जी.ओ. स्थापित होते हैं और इनसे लोग जुड़ते ही हैं स्वयं की बेरोजगारी को दूर करने के लिए। हरिजनों, आदिवासियों, पिछड़ों, के नाम पर जो पैसा मिलता है वह उन लोगों तक पहुंच ही नहीं पाता है। सिर्फ खानापूति होती है। कागजों पर खर्च कर दिया जाता है। कुछ ऐसे काम होते हैं जिससे आसानी से पैसा गबन किया जाता है। एन.जी.ओ. को नियंत्रित करने वाली एजेंसिया चाहकर भी नहीं पकड़ सकती हैं। मसलन शिक्षा का प्रचार-प्रसार और निरक्षरता को दूर करने की योजना। इस योजना का भौतिक सत्यापन नहीं के बराबर होता है। अधिकांश बड़े एन.जी.ओ. और ट्रस्टों ने शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिए स्कूल खोल रखे हैं। स्कूलों के नाम पर बड़े पैमाने पर लूट खसोट होता है। स्कूलों में फर्जी रिपोर्टिंग और फर्जी बिलिंग होती है स्कूलों में चार स्टाफ हैं तो दस दिखाया जाता है। उनका वेतन दो हजार होता है तो कागज पर पांच हजार दिखाया जाता है। इसी प्रकार से वर्दी के नाम पर घपला किया जाता है। विद्यार्थियों के कल्याणार्थ खर्च दिखाकर भी फाल्स बिलिंग और रिपोर्टिंग होती है दिल्ली में ऐसे कई एन.जी.ओ. हैं जो दिल्ली से बाहर कभी नहीं गये और न ही दिल्ली की झुग्गी-झोपड़ियों में गये हैं पर अपने आप को गरीबों का मसीहा के रूप में प्रस्तुत करते हैं। आंकड़े इस प्रकार से प्रस्तुत करते हैं मानो पूरे हिन्दुस्तान में उनका सकारात्मक काम हो। इस प्रकार के एन.जी.ओ. आंकड़ों की प्रस्तुति और लच्छेदार भाषा को माध्यम बनाकर विदेशी और देशी सरकारों से भारी राशि प्राप्त करते रहे हैं।

सबसे दुखद बात यह है कि एन.जी.ओ. द्वारा हरिजनों और आदिवासियों के नाम पर शोषण किया जाता रहा है। हरिजनों और आदिवासियों के नाम पर एन.जी.ओ. का असली संचालक और कर्ताधर्ता दूसरे लोग होते हैं। सिर्फ दिखाने के लिए हरिजन-आदिवासी होते हैं। बल्कि यह कहना गलत नहीं होगा कि इस एन.जी.ओ. में हरिजनों-आदिवासियों की स्थिति एक

मजदूर से बढ़कर नहीं होती है। जबकि हरिजनों—आदिवासियों के नाम पर ही एन.जी.ओ. खोले जाते हैं। इस प्रकार से देखा जाए तो हरिजनों और आदिवासियों का शारीरिक और मानसिक शोषण करने का एन.जी.ओ. एक मंच के रूप में काम कर रहा है। जंगलों और ग्रामीण इलाकों में क्रिश्चियन मिशनरियों द्वारा संचालित एन.जी.ओ. सही अर्थों में काम कर रहे हैं। जंगलों और गांवों में जहां प्रशासन की पहुंच नहीं है वहां ईसाई मिशनरियां सेवा संकल्प में लगी हुई हैं। कुछ दलितों और पिछड़ों के एन.जी.ओ. भी जंगलों और गांवों में सक्रिय हैं, पर उन्हें फंडिंग नहीं मिलती है और प्रोत्साहन भी नहीं मिलता, जिसके कारण वे अपने मकसद से दूर खड़े हैं। यह उनकी मजबूरी और विवशता है।

इधर हाल के वर्षों में स्वयंसेवी संस्थाओं में ब्यूरोक्रसी (नौकरशाही) की दिलचस्पी बढ़ी है। केंद्र और राज्य सरकारों के बड़े पदों पर बैठे नौकरशाही सेवा के दौरान या रिटायरमेंट के बाद एन.जी.ओ. बनाकर काम कर रहे हैं। अब तो राजनीतिज्ञ लोग भी एन.जी.ओ. बनाकर काम कर रहे हैं। नौकरशाही के एन.जी.ओ. के साथ जुड़ने के दो कारण स्पष्ट हैं। पहला सेवा भावना और दूसरा सरकारी पैसे का लूटखसोट करना। नौकरशाही के लिए एन.जी.ओ. रिश्वत लेने और देने का अच्छा माध्यम है। कहा जा सकता है कि रिश्वत लेने और देने की परिभाषा बदल जाती है। ब्यूरोक्रसी एन.जी.ओ. बनाकर खुद के आर्थिक स्वास्थ्य को तो मजबूत करते ही हैं, इसके अलावा अपने रिश्तेदारों को एन.जी.ओ. के माध्यम से पैसा पहुंचाते हैं। अधिकतर नौकरशाह एन.जी.ओ. में अपने पुत्र—पुत्रियों को शामिल कर लेते हैं। नौकरशाहों के ऐसे पुत्र—पुत्रियां जो ऊंचे पदों पर नहीं जा सके वे एन.जी.ओ. में शामिल हो जाते हैं ताकि समाज और व्यवस्था में स्टेटस सिम्बल बना रहे। वहीं दूसरी ओर कुछ ब्यूरोक्रेट ऐसे भी हैं जो सही अर्थों में सेवा की भावना से एन.जी.ओ. बनाते हैं। उनके दिल में सेवा की भावना धधकती रहती है। कई ऐसे ब्यूरोक्रेट हैं जो दिल्ली की तड़क—भड़क की जिंदगी से काफी दूर जंगलों और गांवों में सेवा की भावना से काम कर रहे हैं। इसके अलावा एक और कारण है जिसके चलते ब्यूरोक्रेट एन.जी.ओ. के साथ जुड़ते हैं। रिटायर्डमेंट के बाद घर बैठने की समस्या खड़ी

हो जाती है, ऐसी स्थिति में व्यस्त रहने के लिए एन.जी.ओ. बनाते हैं या फिर किसी एन.जी.ओ. के साथ जुड़ते हैं।

एन.जी.ओ. में विदेशी फंडिंग हो या नहीं यह हमेशा विवाद का विषय रहा है। एक तबका देश में स्वयंसेवी संस्थाओं के माध्यम से विदेशी धन आने का विरोधी है। हमारे विचार से विदेशी फंडिंग होनी चाहिए। विदेशी फंडिंग में बुराई नहीं है। हां यहां यह जरूरी है कि विदेशों से जिन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पैसा खर्च करने के लिए दिया जाता है उन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति में पैसा लगाया जाना चाहिए। विदेशी फंडिंग कर रही एजेंसियों और सरकारों को भी इस मामले में ध्यान देना चाहिए। इस भूमंडलीकरण के दौर में कौन सा ऐसा विकासशील देश है जो विदेशी फंडिंग से दूर है। इस मामले में भारत सरकार की स्थिति काफी दयनीय और हास्यास्पद है। भारत सरकार खुद विदेशी ऋण पर चल रही है। हर माह विदेशों से कर्ज लेती है। अब तो राज्य सरकारें भी विदेशी धन की ओर मुखातिब हैं। सबसे आश्चर्य की बात यह है कि भारत सरकार की नीति और वार्षिक बजट विश्व बैंक, मुद्रा कोष (आई.एम.एफ.) आदि के निर्देश पर बनते हैं। ऐसी स्थिति में एन.जी.ओ. को विदेशी फंडिंग से कैसे रोका जा सकता है।

जहां तक स्वयंसेवी संस्थाओं के कामों को नियंत्रित करने और उनमें फौले भ्रष्टाचार को समाप्त करने की बात है तो इसमें सरकारी नियम-कानून प्रभावी नहीं होंगे। क्योंकि हमारे देश में कानून बनने से पहले कानून तोड़ने के उपाय खोज लिए जाते हैं। कानून को लागू करने वालों पर ही सभी चीजें निर्भर होती हैं। देश का संविधान अच्छा है। संविधान में सभी वर्गों के सम्मान अधिकार दिए गये हैं। लेकिन संविधान के मूल बिन्दुओं को आजतक लागू नहीं किया गया है। लागू करने की जिनपर जिम्मेदारी होती है उनकी नीयत ही खराब होती है। नीयत खराब होने से कोई भी काम ठीक नहीं हो सकता है। मामला यहीं आकर अटक जाता है। लागू करने की जिम्मेदारी जिन पर है वे सभी मनुवादी हैं। मनुवादी लेखक, पत्रकार, अधिकारी, राजनीतिज्ञ और न्यायधीश यह नहीं चाहते कि गरीबों का विकास हो। उदाहरण के लिए

संविधान में अनिवार्य शिक्षा, बच्चों का शोषण रोकने और समतामूलक समाज की स्थापना आदि है लेकिन क्या हमारे देश में यह सब हो रहा है? यह सचचाई किसी से छिपी हुई नहीं है। मनुवादियों ने 1997 में पांच आरक्षण विरोधी आदेश देकर आरक्षण समाप्त करने की कोशिश की? जिस प्रकार से पाकिस्तान हिन्दुस्तान को दुश्मन के रूप में देखता है उसी प्रकार से मनुवादी दलितों और आदिवासियों को देखते हैं। हालांकि सारे मनुवादी दोषी नहीं हैं। मनुवादी नीयत भूमंडलीकरण की व्यवस्था है दलितों, आदिवासियों और पिछड़ों के आरक्षण को समाप्त करने के लिए बहुराष्ट्रीय कंपनियों को बुलाया जा रहा है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक जिम्मेदार व्यक्तियों की निष्ठा और नीयत साफ नहीं होगी एन.जी.ओ. का भ्रष्टाचार और मनुवादी व्यवस्था समाप्त नहीं होगी। कुछ एन.जी.ओ. को ब्लैक लिस्टेड करने से काम नहीं चलने वाला हैं फिर दूसरे नाम से एन.जी.ओ. खोल कर दुकानदारी प्रारंभ कर देंगे। इसलिए एन.जी.ओ. के भ्रष्टाचार को रोकने के लिए जागरूकता जरूरी है। लोगों को शिक्षित बनाना आवश्यक है। जिसके लिए पैसा आता है उसे मालूम होना चाहिए कि उसके लिए पैसा आया है। जब लोग शिक्षित होंगे तो अपने अधिकार और हक के लिए स्वयं तत्पर होंगे, उन्हें बैशाखी की जरूरत नहीं होगी। इसी माध्यम से एन.जी.ओ. का भ्रष्टाचार समाप्त किया जा सकता है या फिर अंकुश लगाया जा सकता है।

हमारा संगठन 'अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति संगठनों का अखिल भारतीय परिसंघ' एक जन आंदोलन है। हमने पिछले दिनों सुप्रीम कोर्ट के खिलाफ 10 (दस) लाख लोगों की रैली दिल्ली में निकाली है। हमारा संगठन एन.जी.ओ. नहीं है। हम न तो विदेश से फंडिंग करते हैं न भारत सरकार से। सदस्यों की सदस्यता शुल्क से हमारा संगठन चलता है। हमें विदेशी धन लेने में भी कोई हिचक नहीं है। विदेशी धन मिला तो हम दलितों, आदिवासियों और पिछड़े वर्ग के बच्चों के लिए कंप्यूटर इंस्टीट्यूट खोल कर उन्हें आई.टी. बनाएंगे।

किस उद्देश्य से लिया गया विदेशी पैसा, यही महत्वपूर्ण

शंभूशरण श्रीवास्तव

गैर-सरकारी संगठन (एन.जी.ओ.) की संपूर्ण भूमिका की चर्चा करने से पहले नौकरशाही की चर्चा जरूरी है। गैर-सरकारी संगठन की सफलता और असफलता से नौकरशाही के गहरे रिश्ते हैं। नौकरशाही हमारी लोकतांत्रिक व्यवस्था में एक संकट के रूप में खड़ी है, क्योंकि वह लोकतांत्रिक मूल्यों और सिद्धांतों के खिलाफ चलती है। देश की अधिकांश समस्याओं की जड़ में नौकरशाही ही है। गैर-सरकारी संगठन में भी नौकरशाही की भूमिका नकारात्मक है। नौकरशाही की इसी भूमिका के कारण एन.जी.ओ. की विकासात्मक गतिविधियों का लाभ आमलोगों को नहीं मिल रहा है।

आजादी के बाद अंग्रेजी शासन से विरासत में हमें जो नौकरशाही मिली थी वह सिर्फ कानून व्यवस्था के लिए थी। धीरे-धीरे नौकरशाही की भूमिका और कार्य का विस्तार हुआ। पहले विकास का काम नौकरशाही के जिम्मे में आया। अब तो ऐसा कोई काम नहीं है जो नौकरशाही के अधीन नहीं हो। तमाम विकास कार्यों में नौकरशाही के हस्तक्षेप का परिणाम यह हुआ कि देश में नौकरशाही, भ्रष्ट राजनीतिज्ञ और ठेकेदारों का एक गठजोड़ हो गया। इस गठजोड़ ने विकास के लिए मिले सरकारी धन की लूट और दुरुपयोग शुरू कर दिया। सरकारी योजनाओं की सफलता संदिग्ध हो गयी। यह कहना गलत नहीं होगा कि सरकार की विकासात्मक कोशिश असफल रही और जनता के विकास के लिए मिली सरकारी धनराशि जनता के पास न पहुंच कर नौकरशाही, राजनीतिज्ञ और ठेकेदारों तक पहुंच गयी।

सरकार की अपनी समस्या रहती है। सरकारी विभागों में फैले भ्रष्टाचार और अधिकारियों व कर्मचारियों के निकम्मेपन को दूर करना आसान काम नहीं है। सरकारें इस मामले में भ्रष्टाचार

व अधिकारियों के निकम्मेपन को नियंत्रित करने की स्थिति में नहीं रहती हैं। इसके अलावा एक और बात यह है कि सारे काम सरकार खुद नहीं कर सकती है। ऐसी स्थिति में जनता के विकास और वह भी भ्रष्टाचार मुक्त विकास का सवाल सरकार के पास आया। काफी मंथन के बाद सरकार इस निष्कर्ष पर पहुंची कि विकास के कुछ कार्य, सामाजिक जागरण और आर्थिक स्वावलम्बन के कार्य स्वयंसेवी संगठनों के माध्यम से कराये जाएं।

दरअसल विकासात्मक कामों में स्वयंसेवी संगठनों की सहभागिता की नीति का मकसद सरकारी धन को नौकरशाही के चंगुल से बचाना था, मुक्त रखना था। प्रारंभिक दौर में सरकार की यह नीति कुछ हद तक सफल रही पर अब यह नीति भी असफल हो गयी है। स्वयंसेवी संगठन और सरकार से मिलने वाली धनराशि भी नौकरशाही के चंगुल में पूरी तरह फंस चुकी है। व्यवहारिक तौर पर सरकार की नीतियों को लागू करने की जिम्मेवारी नौकरशाही व सरकारी अमले की होती है लेकिन जनता द्वारा निर्वाचित जन प्रतिनिधियों को भी अपनी जिम्मेवारी समझना चाहिए। विकास और नौकरशाही के ढांचे में एक स्पष्ट अंतर्विरोध है। यह देखने की जरूरत है कि कहीं हमारी नौकरशाही एन.जी.ओ. या अन्य विकासात्मक कार्यों के रास्ते में बाधा तो नहीं पहुंचा रही है?

अगर आप ईमानदारी पूर्वक उपर्युक्त बातों का अध्ययन करेंगे तो पाएंगे कि अधिकतर 'एन.जी.ओ.' के उद्देश्य नौकरशाही और सरकारी विभागों के नकारात्मक सोच व नीति के कारण सफल नहीं हो पाते हैं। भ्रष्ट 'एन.जी.ओ.' को सरकारी धन तो तुरंत मिल जाता है पर जो सही काम करने वाली गैर-सरकारी संस्थाएं हैं उन्हें या तो अनुदान नहीं मिलता है या फिर अनुदान के लिए गैर जरूरी कागजों की मांग की जाती है और विभिन्न प्रकार की आपत्तियां उठायी जाती हैं। आपत्तियां ऐसी होती हैं कि जिसे दूर करना संभव नहीं हो सकता है। आपत्तियां बताकर महीनों दौड़ाया जाता है। फिर कमीशन की बात होती है। कमीशन मिलते ही सभी आपत्तियां

दूर हो जाती हैं। जो 'एन.जी.ओ.' कमीशन देने से इंकार कर देते हैं उन्हें अनुदान नहीं मिलता है।

एक तथ्य यहां और भी है। हाल के वर्षों में नौकरशाही में 'एन.जी.ओ.' बनाने और चलाने का फैशन बन गया है। अब नौकरशाह खुद, एन.जी.ओ. बनाकर सरकारी, गैर-सरकारी और विदेशों से मिले पैसों का दुरुपयोग या घोटाला कर रहे हैं। आलोचना और कार्रवाई के डर से नौकरशाही अपने परिवार के किसी सदस्य के नाम से एन.जी.ओ. की दुकानदारी चला रहे हैं। ऐसे धंधेबाज एन.जी.ओ. को काम तुरंत मिल जाता है। उन्हें मालूम रहता है कि पैसा किस विभाग में है और कैसे मिल सकता है। नौकरशाहों के इशारे पर बने ऐसे एन.जी.ओ. खुशहाल हैं और इनके पास पैसे की कमी नहीं है।

नौकरशाही से या फिर उनके परिवार से जुड़े 'एन.जी.ओ.' को जो पैसा मिलता है उसका सदुपयोग होता है या दुरुपयोग, जिन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पैसा मिलता है उन उद्देश्यों को ही हासिल करने में लगाया जाता है कि नहीं, कहीं सरकारी राशि भ्रष्टाचार में तो नहीं जा रही है, इन सारी बातों पर निगाह रखने की जरूरत है। इसकी पूरी जांच होनी चाहिए। कोई ऐसा कानून बनना चाहिए जिसको आधार बनाकर नौकरशाही द्वारा या उनके परिवार द्वारा एन.जी.ओ. बनाने और चलाने पर रोक लगायी जा सके, या फिर नौकरशाहों के सेवा नियमों में परिवर्तन कर इस बुराई पर नियंत्रण पाना चाहिए।

इसमें दो राय नहीं है कि एन.जी.ओ. की भूमिका हमारे देश में बढ़ी है। पिछले दो दशकों से ऐतिहासिक रूप से एन.जी.ओ. ने अपनी जगह बनायी है। एन.जी.ओ. की भूमिका बढ़ने के पीछे राजनीतिक और सामाजिक कारण रहे हैं। स्वतंत्रता आंदोलन के समय महात्मा गांधी ने रचनात्मक आंदोलन की शुरुआत की थी। उन्होंने रचनात्मक कार्यों को प्रमुखता से आगे बढ़ाया था। आजादी के बाद इस काम को मुख्य धारा से जुड़ी राजनीतिक पार्टियों और

कार्यकर्ताओं ने आगे बढ़ाया। राजनीतिक पार्टियां और उनके कार्यकर्ता गांवों के लोगों और उनके सुख-दुख के साथ जुड़े रहते थे। धीरे-धीरे इसमें ह्रास होता चला गया। मुख्य धारा से जुड़ी राजनीतिक पार्टियों में सेवा की भावना कम होती गयी। राजनीतिक पार्टियां सुख-दुख से अलग हो गयीं। जोड़-तोड़ की राजनीति शुरू हो गयी। सांसद और विधायक बनने के लिए राजनीतिक मूल्यों व सिद्धांतों की तिलांजलि दे दी गयी। इसका असर यह हुआ कि चुनावी राजनीति के कारण एक खाई पैदा हो गयी। इस खाई को एन.जी.ओ. ने भरने का काम किया।

कुछ गैर-सरकारी संगठनों ने अच्छा काम किया है, कुछ संगठनों ने खराब काम किया है। हरिजनों और दलितों के नाम पर जो कुछ हो रहा है, वह नहीं होना चाहिए। उनके विकास के लिए मिली राशि का जमकर दुरुपयोग हो रहा है। कुल मिलाकर नतीजा उत्साहजनक और सकारात्मक नहीं निकल रहा है। ईसाई मिशनरी से जुड़े गैर-सरकारी संगठनों ने अच्छा काम किया है। क्रिश्चियन मिशनरी ने शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में बहुत बड़ा काम किया है। जिन इलाकों में सरकारी अधिकारी, कर्मचारी और अन्य लोगों की पहुंच नहीं थी वहां पर रहकर क्रिश्चियन मिशनरी और उनसे जुड़े गैर-सरकारी संगठनों ने शिक्षा का अलख जगाने का काम किया है। क्रिश्चियन मिशनरी और उनके संगठनों पर धार्मिक भावनाएं भड़काने और धर्मांतरण के भी आरोप लगे हैं। लेकिन विश्लेषण करेंगे तो पाएंगे कि देश में ईसाई मिशनरियों द्वारा धर्मांतर काफी कम हुए हैं। यहां यह बात भी उल्लेखनीय है कि ईसाई स्वयंसेवी संगठनों के अलावा संघ परिवार से जुड़ी संस्थाएं देश की राजनीतिक प्रक्रिया को प्रभावित करने की कोशिश करती हैं पर अभी तक उन्हें इस मामले में विशेष सफलता नहीं मिली है। कुछ इलाकों में इन्हें सफलताएं जरूर मिली हैं या मिल रहीं हैं। हमारे देश का दुर्भाग्य यह है कि राजनीतिक दलों में सिद्धांतों व मूल्यों की राजनीति का पतन हो गया है। चुनाव जीतने के लिए राजनीतिक दल कुछ भी कर सकते हैं। जाति, धर्म, भाषा के नाम पर खिलवाड़ हो रहा है। कुछ एन.जी.ओ. भी राजनीतिक दलों के इस काम में सहयोगी की भूमिका निभा रहे हैं। इनके लिए वे नीतियां बनाते हैं। राजनीतिक दलों में विश्वास की कमी से यह सब हो रहा है।

राजनीतिक प्रक्रिया को प्रभावित करने की कोशिश एन.जी.ओ. भी कर रहे हैं। क्षेत्रीय और धार्मिक भावनाएं भड़का कर चुनाव में राजनीतिक दल 'एन.जी.ओ.' का समर्थन ओर सहयोग लेते रहे हैं। इसलिए सारा दोष एन.जी.ओ. को ही देना तर्कसंगत और न्यायप्रिय नहीं होगा, इसमें राजनीतिक दल भी बराबर के दोषी हैं। बावजूद इसके यह कहा जा सकता है कि अभी एन.जी.ओ. में राजनीतिक प्रक्रिया को प्रभावित करने की विशेष शक्ति नहीं है। हमारी राजनीति में अभी भी ऊर्जा बची है।

एन.जी.ओ. में विदेशी फंडिंग को लेकर समय-समय पर सवाल उठता रहा है। यह एक विवादित मुद्दा है। देश में इस मुद्दे पर स्पष्ट राय नहीं है। कुछ लोग इसे ठीक मानते हैं और कुछ लोग गलत मानते हैं। यहां सवाल गलत और सही का नहीं है। सवाल **इस बात का है कि पैसा जिस काम के लिए आ रहा है उसमें लग रहा है कि नहीं।** गरीबों के विकास, उत्थान, शिक्षा का प्रचार-प्रसार, हरिजनों-आदिवासियों की भलाई के लिए विदेशी पैसा आता है तो उसका स्वागत किया जाना चाहिए। राष्ट्र विरोधी गतिविधियों के लिए विदेशी धन नहीं आना चाहिए। आश्चर्यजनक बात यह है कि विदेशी धन ही नहीं बल्कि देशी सरकारी धन भी राष्ट्र विरोधी गतिविधियों में जा रहा है। पूर्वोत्तर राज्यों में विकास के लिए मिले पैसों का एक बड़ा भाग उग्रवादियों के दलों में जा रहा है। सरकारी अधिकारी उग्रवादियों को पैसा पहुंचाते हैं।

कुछ लोगों का यह कहना है कि जो संगठन विदेशों से पैसा लेते हैं उन्हें वैश्वीकरण का विरोध नहीं करना चाहिए। यह तर्क नकारने योग्य है, इस बात से सहमत नहीं हुआ जा सकता है। विदेशी फंड लेना और वैश्वीकरण का विरोध करना दोनों अलग-अलग मामले हैं। विदेशी फंड लेने का मतलब यह नहीं है कि हम अपने ऊपर पड़ने वाले नकारात्मक प्रभावों का विरोध नहीं करेंगे। वैश्वीकरण के खिलाफ स्वयंसेवी संगठनों ने बहुत अच्छा काम किया है। विकसित देशों के सामने विकासशील देश नतमस्तक हो गये हैं। राजनीतिक पार्टियों को भी

जितना विरोध करना चाहिए था नहीं कर रही हैं। राजनीतिक पार्टियां बाहर रहने पर कुछ और सत्ता में आने पर कुछ और बातें करती हैं। इस मामले में कोई भी दल अपवाद नहीं है। सचार्इ यह है कि दुनिया में वैश्वीकरण का जो विरोध हो रहा है वह सिर्फ एन.जी.ओ. के द्वारा ही हो रहा है। सिएटल में जो कुछ हुआ या फिर जो दूसरी जगहों पर विरोध हो रहा है इसमें भी एन.जी.ओ. की भूमिका है, इस बात को दुनिया भर में स्वीकार किया जा रहा है। वैश्वीकरण इतना आसान मामला नहीं है। इससे प्रभावित होने वालों में विकसित देशों के भी लोग हैं और विकासशील देशों के भी। इसलिए इस मामले को गहराई से देखा जाना चाहिए।

कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें वैश्वीकरण के माध्यम से पैसा आना या लेना जरूरी है। इसका विरोध नहीं किया जाना चाहिए। हमको 'इन्फ्रास्ट्रक्चर' के लिए पैसा चाहिए, उच्च टेक्नोलाजी के क्षेत्र में पैसा चाहिए, सड़क, बिजली आदि के लिए पैसा चाहिए। देश के विकास के लिए जिन-जन क्षेत्रों में विदेशी सहायता और धन की जरूरत है, उन क्षेत्रों के लिए पैसा लिया जाना चाहिए। इन्फ्रास्ट्रक्चर के बिना विकास कैसे संभव है? कुछ संगठन ऐसे हैं जो नहीं चाहते कि देश में विकास की गति तेज हो। वैश्वीकरण के नाम पर ऐसे संगठन हमारे विकास को रोकने का काम करते हैं। हालांकि उनके मुहावरे लुभावने हैं लेकिन लुभावने मुहावरों के अंदर भाव यह छिपा हुआ है कि भारत पिछड़ा ही रहे। यह भी सही है कि हम वैश्वीकरण की प्रक्रिया से जुड़े हुए हैं। भारत अगर चाहे तो भी वैश्वीकरण की प्रक्रिया से अलग नहीं हो सकता है।

भ्रष्टाचार चाहे एन.जी.ओ. में हो या और किसी भी विभाग में, इसे रोकने के लिए जागरूकता जरूरी है, राजनीतिक प्रक्रिया को मजबूत किये बिना यह संभव नहीं है। सिर्फ सरकारी प्रयासों से भ्रष्टाचार दूर नहीं होगा। सरकार की अपनी मजबूरी होती है। इसके लिए राजनीतिक पार्टियों को अपने कार्यकर्ताओं को गांव-गांव भेजना होगा, लोगों के सुख-दुख के साथ जुड़ना होगा और पंचायती राज संस्थाओं को मजबूत करना होगा, तभी कुछ बात बन सकती है। इसके अलावा राजनीतिक रचनात्मकता जो समाप्त हो गयी है, उसे पुनर्स्थापित करना होगा।

अपराध और धनराशि के कारण राजनीति में अच्छे लोग नहीं आ रहे हैं, ऐसे लोग एन.जी.ओ. में या दूसरे क्षेत्र में जा रहे हैं। राजनीति में बाहुबल और 'मनी पावर' को समाप्त कर अच्छे लोगों को स्थान दिया जाना चाहिए। इन बदलावों के बिना सिर्फ एन.जी.ओ. में ही नहीं बल्कि किसी भी क्षेत्र में भ्रष्टाचार को दूर करना नामुमकिन होगा।

देशज ज्ञान परंपराएं

सुधीरेन्द्र शर्मा

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अमरीका और उसके दोस्त संपन्न राष्ट्रों को लग गया था कि अब दुनिया पर हथियारों और फौज के जरिये वर्चस्व स्थापित करना संभव नहीं है। उसी वक्त 20 जनवरी 1949 को अमरीकी राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अपनी सीनेट में बेहद महत्वपूर्ण भाषण दिया जिसमें कहा गया था – “अब साम्राज्यवाद का दौर समाप्त हो गया है। लोगों को बहुत दिनों तक दासता की जंजीरों में कैद नहीं रखा जा सकता। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के लाभ अब दुनिया भर में बांटने होंगे। अविकसित या कम विकसित देशों में विकास की गति तेज करनी होगी।” इस भाषण के माध्यम से पहली बार विकसित और अविकसित नाम के दो खांचों में विश्व का विभाजन कर दिया गया। विकास की नयी परिभाषा गढ़ी गयी और उसे अविकसित या विकासशील देशों पर थोप दी गयी। अमरीका ने विकास का अपना मॉडल दुनिया भर में बांटने का अभियान सा चला दिया। इसी सोच के गर्भ से विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएं जन्मीं। बड़े बांध, बड़े उद्योग और आलीशान इमारतों के बीच समूची मानव जाति को घुमाया जाने लगा। विकासशील देशों की परंपरागत सोच को अपनी आधुनिक जरूरतों के हिसाब से बदलने का सिलसिला शुरू हुआ। विश्व को बौद्धिक तरीके से नियंत्रित करने का एजेंडा बनाया गया। समूची शिक्षा व्यवस्था से देशज ज्ञान परंपराओं को निकाल बाहर कर हाशिये पर रख दिया गया। यह मान लिया गया कि देशज ज्ञान अप्रासंगिक हो चुका है यह एक बड़ी साजिश थी। अमरीका के नेतृत्व में अमीर मुल्कों के शासकों ने अपनी प्रौद्योगिकी के जरिये उत्पादित माल की खपत तीसरी दुनिया में बढ़ाने के लिए समूची आबादी को मानसिक रूप से तैयार करने का यही सबसे माकूल तरीका अपनाया। अपनी प्रौद्योगिकी और विकास का मॉडल देकर पहले दो सौ वर्षों तक अंग्रेजों ने हमारा शोषण किया और आजादी के बाद उसी मॉडल में अमरीका ने हमें उलझाये रखा। बड़े बांध और बड़े कल-कारखानों को पंडित जवाहरलाल नेहरू आधुनिक भारत का मंदिर मानते थे। कहा जाता

है कि अपनी मृत्यु से ठीक पहले उन्होंने अपनी इस धारणा पर अफसोस व्यक्त किया था क्योंकि तब तक विकास के इस मॉडल के कुछ नकारात्मक प्रभाव सामने आने लगे थे। अमीर मुल्कों ने जो 'विकास का फतवा' जारी किया उसकी गिरफ्त में हमारी पूरी सरकार आ गयी।

विकास के इस फतवे का असर गैर सरकारी या स्वयंसेवा क्षेत्र पर भी पड़ा। हमारे देश में स्वयंसेवा की एक लंबी परंपरा रही है लेकिन मैं बिना संकोच के यह कह सकता हूँ कि पिछले पचास वर्षों में गैर सरकारी क्षेत्र अपने मूल उद्देश्यों से भटक सा गया। साध्य के मामले में उनकी निष्ठा पहले जैसी नहीं रही। महात्मा गांधी के दिनों में जो सामाजिक सरोकार और प्रतिबद्धता थी आज की स्वयंसेवी संस्थाओं में वह बात नहीं दिखती। प्रतिबद्धता से ज्यादा यह क्षेत्र अब सामाजिक रोजगार का माध्यम बनता जा रहा है। ऐसा करने में हमारी सरकारों और विदेशी फंडिंग एजेंसियों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है, इस मामले में दोनों में परस्पर तालमेल है। पिछले 8-10 वर्षों से सरकारें बेरोजगारी पर बात नहीं करती, एन.जी.ओ. भी बात नहीं करते जबकि आबादी और बेकारी बढ़ी है। दरअसल ये सब मिलकर बेकारों को विकास के अपने मॉडल में लगा देना चाहते हैं। पिछले एक दशक में बड़े पैमाने पर एन.जी.ओ. क्षेत्र का विस्तार हुआ है तो इसकी वजह 'योजनाबद्ध पैसा' है। यानी वे पैसा भी देते हैं और काम करने का तरीका भी सुझाते हैं। कोई एन.जी.ओ. क्या करना चाहता है उस पर पैसा नहीं है जो विदेशी ताकतें कराना चाहती हैं उसके लिए पैसा है। एजेंडा वे तय कर रहे हैं और एन.जी.ओ. उसको लागू कर रहे हैं।

विकास की उनकी पूरी अवधारणा एक भ्रम है। लगता है कि विकास हो जाएगा लेकिन होता नहीं। विकास के इस फतवे की अपनी एक अलग भाषा और शब्दावली भी है। उनकी इस भाषा का एक शब्द है 'एडाप्शन' यानी वे लोग कुछ गांवों को 'एडाप्ट' लेना चाहते हैं मानो वे गांव अनाथ रहे हों। इन गांवों को गोद लेकर विकास की रूपरेखा तैयार की जाती है और वह विकास कभी पूरा नहीं होता। एक के बाद एक दुष्क्र में फंसता जाता है। इसी तरह पानी के

लिए विकसित हुए परंपरागत तालाब और कुओं की जगह विकास की इस आधुनिक धारा ने 'वाटरशेड मैनेजमेंट' और 'वाटर हारवेस्टिंग' जैसे नये शब्द उछाले। इसके जरिये नाना प्रकार के कार्यक्रम चले लेकिन पानी की समस्या हल नहीं हुई तो फिर एक नया शब्द उछाल दिया गया। कहा गया कि इस कार्यक्रम का स्वरूप सामुदायिक होना चाहिए और तब 'कम्युनिटी वाटरशेड अप्रोच' की अवधारणा का जोर-शोर से प्रचार किया गया। इससे भी पानी कहीं रुकता नहीं दिखा तो फिर लोगों को अपनी जाल में उलझाये रखने के लिए एक नयी शब्दावली गढ़ी गयी। यह शब्दावली थी – इंटीग्रेटेड वाटर रिसोर्स ऐंड मैनेजमेंट (आई.डब्ल्यू. आर.एम.)। आजकल यह शब्दावली खूब चल रही है। इसके जरिये शहर और गांव को एक साथ मिलाकर पानी के प्रबंध की योजनाएं चल रही हैं। इसका भी वही हश्र होना तय है। पानी से संबंधित हमारी देशज ज्ञान परंपरा को दरकिनार कर ये सारी योजनाएं विदेशों में बनती हैं और उनकी प्रौद्योगिकी हमारे ऊपर थोप दी जाती है। इसका असर यह हुआ कि हमारे देश के आम जन जीवन में उन्हीं की शब्दावली लोकप्रिय हो गयी और देश के नीति निर्माता भी वही भाषा बोलने लगे।

बहरहाल, विकास का यह मॉडल भी अब एक जगह जाकर ठहर गया। जितना पैसा खर्च हुआ उतना विकास नहीं हुआ। विदेशी फंडिंग एजेंसियों को भी लगने लगा कि इस तरह कितना पैसा बांटा जाएगा। उनके स्रोत भी धीरे-धीरे सूखने लगे। इसके लिए जरूरी था कि वह कुछ पैसा उन लोगों से भी उगाहें जिनका विकास होना है। इसी सोच के तहत 'सेल्फ हेल्प ग्रुप' या स्वयं सहायता समूहों की भरमार हुई। तत्कालीन वित्त मंत्री यशवंत सिन्हा ने अपने बजट भाषण में एक लाख से ज्यादा स्वयं सहायता समूहों के गठन की बात कही थी। इस स्वयं सहायता समूह को समझना भी जरूरी है। आजकल सभी एन.जी.ओ. ऐसा समूह बनाने में लगे हैं। दस-बीस-पचास महिलाओं या पुरुषों का एक समूह बनता है और उस समूह के सभी सदस्य हर माह एक निश्चित धनराशि जमा करते हैं। उस जमा राशि में ग्रामीण बैंक के मार्फत कुछ पैसा भी डाल दिया जाता है। इस पूरी जमा राशि से ही समूह के सदस्यों को आवश्यकतानुसार ऋण दिया जाता है। यह ऋण कम ब्याज पर लंबी अवधि में चुकाना होता

है। यह काम बांग्लादेश में 20-25 वर्षों से हो रहा है जो काम पहले महाजन करते थे वही काम अब एन.जी.ओ. कर रहे हैं। महाजनी सभ्यता की कई खामियां थीं लेकिन कुछ अच्छाइयां भी थीं। मसलन महाजन जब किसी को कर्ज देता था तो वह उसकी वापसी की गारंटी भी करता था और कर्ज राशि के सही निवेश पर उसका जोर रहता था। स्वयं सहायता समूहों में ऐसा नहीं हो रहा है। ये समूह पूरी तरह बाजार की शक्तियों के लिए बने हुए हैं। बहुराष्ट्रीय कंपनियों का विज्ञापन इतना प्रभावकारी है कि जो महिला या पुरुष इन समूहों के जरिये ऋण लेते हैं वे बाजार के मायाजाल में फंसकर उपभोग की गैर जरूरी चीजें खरीद लेते हैं। कोई टी.वी. खरीदता है तो कोई मोटरसाइकिल और कोई फ्रिज खरीद लेता है। कुछ पैसा चुकाता है लेकिन माली हालत खराब होती जाती है इसलिए वह एक जगह पहुंचकर ऋण चुकाने को लेकर हाथ खड़ा कर देता है। फिर एन.जी.ओ. वाले उसे ऋण देते हैं और उसी ऋण का एक हिस्सा पुराने कर्ज की वापसी के एवज में अपने पास रख लेते हैं। बेचारा आम आदमी कर्ज के दुष्चक्र में फंसता चला जाता है। इस पूरी प्रक्रिया में अब विदेशी फंडिंग एजेंसियों के पास जनता से एकत्र हुई राशि भी पहुंच रही है और उनके द्वारा प्रचारित-प्रसारित उपभोक्तावाद के लिए बाजार भी निर्मित हो रहा है। और दुर्भाग्य है कि यह समूची प्रक्रिया एन.जी.ओ. के माध्यम से संचालित हो रही है। एन.जी.ओ. भूमंडलीकरण के दौर के नये महाजन बन गये हैं।

इसे विश्व बैंक ने अपनी नयी शब्दावली के जरिये 'माइक्रो क्रेडिट' कहा है। माइक्रो क्रेडिट को जोर-शोर से बढ़ाने के लिए सन् 2005 में एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन होने वाला है। इसका आयोजन संयुक्त राष्ट्र संघ कर रहा है। सारी सरकारें इस अभियान में लगी हैं। इस सम्मेलन के आयोजकों में दो कंपनियां भी हैं। एक सिटी कारपोरेशन और दूसरी माइक्रोसाफ्ट। इस सम्मेलन का मुख्य जोर स्वयं सहायता समूहों के विस्तार और माइक्रो क्रेडिट बढ़ाने पर होगा ताकि गरीब लोगों को बहुराष्ट्रीय कंपनियों का बाजार बनाया जा सके। अपने देश की पुरानी महाजनी सभ्यता की विकृतियों को दूर कर उसे नया रूप देने की बजाय विदेशी फंडिंग एजेंसियों के इशारे पर एन.जी.ओ. और सरकार समूची देशज ज्ञान परंपराओं तो ताक पर रखने का अभियान चला रही हैं। मैं इसे एक षड्यंत्र मानता हूं। चाहकर भी अब एन.जी.ओ.

इस चंगुल से मुक्त नहीं हो सकते क्योंकि विदेशी फंडिंग अब उनके रोजगार और अजीविका का साधन बन गयी है। तो फिर सवाल उठता है कि क्या विदेशी पैसा लेने पर रोक लग जानी चाहिए। मुझे लगता है कि रोक नहीं लगनी चाहिए। अब तक जितना इस पैसे ने हमारा नुकसान किया है उसकी भरपाई के लिए यह पैसा लिया जाय तो ठीक है। यदि किसी दूसरी समझ के तहत यह पैसा लिया जा रहा हो तो जरूर उस पर रोक लगनी चाहिए। अपने एजेंडे पर काम करने के लिए और देशज ज्ञान परंपराओं के आधार पर विकास की नींव खड़ी करने के लिए यदि कोई विदेशी एजेंसी पैसा देती है तो उसे लिया जाना चाहिए।

पंद्रह-बीस वर्ष पहले हम लोगों ने मिलकर एनर्जी-इन्वायरमेंट ग्रुप नाम का एक एन.जी.ओ. बनाया था। हम भी देशी-विदेशी फंडिंग एजेंसियों के बनाये कार्यक्रमों को अपने तरह से लागू करने का ही काम करते हैं। चार-पांच साल पहले अहसास हुआ कि चाहे लोगों के घरों में सौर ऊर्जा से संचालित चूल्हा पहुंचाने की बात हो या पापड़, चटनी और अचार बनाने के छोटे-छोटे उद्योग चलाने की हम काम तो किये लेकिन ऐसा लगा कि इससे गांवों पर कोई बुनियादी फर्क नहीं पड़ रहा है। सोचते-सोचते एक बात दिमाग में आयी कि पहले भी गांवों के लोग अपनी तरह से काम करते थे, अपनी समस्याओं को सुलझाते हुए विकास का अपना एक रास्ता भी बनाया था – आखिर वह रास्ता क्या था? उनकी परंपरागत समझ क्या थी? इसी सोच के तहत हमने देशज ज्ञान परंपराओं को समझने और गांव वालों से ही कुछ सीखने का फैसला किया। अपनी मिट्टी और पानी के बारे में उनकी सैकड़ों वर्षों से चली आ रही समझ को जानने की ललक बढ़ी। मन में अक्सर सवाल उठता रहा कि निरक्षर-अनपढ़ गांव वालों की समझ को जानकर आखिर होगा क्या? बड़े-बड़े वैज्ञानिक और आधुनिक विकास के पैरोकार अनपढ़ों की इस समझ को मान्यता देंगे नहीं! कुछ दिनों तक हम आशंकाग्रस्त रहे लेकिन बाद में पता चला कि अब आधुनिक विकास की अवधारणा को शत-प्रतिशत सही मानने वाले भी देशज ज्ञान परंपराओं की समझ हासिल करने को उत्सुक हैं। जब से डब्ल्यू.टी. ओ. और पेटेंट प्रणाली की चर्चा शुरू हुई है तब से विदेशी शक्तियों ने परंपरागत ज्ञान जुटाने का अभियान सा छेड़ दिया है। आम लोगों से देशज ज्ञान परंपराओं को इकट्ठा कर उनकी

चमकदार पैकेजिंग करने के बाद वही ज्ञान दुनिया भर में बहुराष्ट्रीय कंपनियां बेचने लगी हैं। अब हमारे सामने सवाल है कि आम आदमी के ज्ञान की इस धरोहर को लुट जाने से आखिर कैसे बचाया जाय। देशज ज्ञान का पूरा मसला उस मधुमक्खी की तरह होना चाहिए जिसे फूल पर बैठने और उसका रस लोगों तक पहुंचाने का हक होता है। फूल और मधुमक्खी दोनों समाज की संपत्ति हैं किसी कंपनी की नहीं।

आम आदमी अपने ज्ञान की कीमत नहीं जानता। उससे जो हमें पता चलता है उसका डाक्युमेंटेशन करना भी खतरनाक है क्योंकि कोई भी विदेशी एजेंसी उसे हासिल कर अपना पेटेंट करा सकती है। ऐसा हो भी रहा है। भारत सरकार भी देशज ज्ञान परंपराओं के डाक्युमेंटेशन के अभियान पर जुटी है। उसके इस डाक्युमेंटेशन का कौन कंपनी अपने निजी हित में प्रयोग कर रही है, कहना मुश्किल है। ऐसी अनेक बीमारियां हैं जिनकी इलाज की कुंजी गांव वालों के पास है। ऐसी अनेक वनस्पतियां हैं जिनके गुणों—अवगुणों की जानकारी मात्र से कोई बहुराष्ट्रीय कंपनी करोड़ों का मुनाफा कमा सकती है। इसलिए आज मुख्य प्रश्न यह हो गया है कि गांव वालों के देशज ज्ञान को कैसे बाहर जाने से सुरक्षित रखा जाय और उनको उसकी कीमत दिलायी जाय। यह काम पंचायतों के जरिये संभव हैं हमने कुछ पंचायतों में यह प्रयोग शुरू किया है। गांव की समूची देशज ज्ञान परंपरा पंचायत इकट्ठा करती है और पंचायत के ही लोग उसकी कीमत तय करते हैं। उस ज्ञान पर समूचे समाज का बराबर का हक हो इसका उपाय भी करना पड़ेगा। चूंकि गांव का आम आदमी अपने देशज ज्ञान की कीमत नहीं समझता इसलिए सबसे पहले उसे इसकी कीमत समझनी पड़ेगी। मैं समझता हूं कि एन.जी.ओ. क्षेत्र के समक्ष देशज ज्ञान परंपराओं को लूट से बचाने की यह एक बड़ी चुनौती है। यह काम विदेशी फंडिंग एजेंसी के सहारे सक्रिय एन.जी.ओ. को भी करना पड़ेगा। लोगों को इसके प्रति सचेत करके ही यह संभव हो पाएगा। मुझे शक है कि विदेशी पैसे से सक्रिय एन.जी.ओ. यह काम कर पाएंगे। भारत सरकार की संस्थाओं को भी सचेत होना पड़ेगा। इंडियन काउंसिल ऑफ रिसर्च भी वही काम कर रहा है जो विदेशी एजेंसियां करती हैं। देशज ज्ञान पर पंचायतों के संपूर्ण अधिकार की बात ये संस्थाएं भी नहीं कर रही हैं, यह दुखद है।

उनका पूरा डाक्युमेंटेशन विदेशी कंपनियों तक पहुंच जाने का खतरा है लेकिन सरकार हाथ पर हाथ धरे बैठी है। मुझे तो यह भी लगता है कि सरकार भी विदेशी एजेंडे पर ही काम करना अपनी नियति मान चुकी है। यही नहीं कुछ उदाहरण तो ऐसे भी सामने आये हैं जिनमें हमारे देश के वैज्ञानिक ही कई देशज ज्ञानों की वैज्ञानिकता पर प्रश्नचिन्ह खड़े कर रहे हैं। यह सही है कि गांव के आम आदमी के पास जो ज्ञान है उसकी वैज्ञानिकता जांचने—परखने का काम वह आम आदमी नहीं कर सका है और शायद वह कर भी नहीं पाएगा। इसलिए यह दायित्व देश के वैज्ञानिकों को निभाना पड़ेगा। यह दायित्व निभाने के बजाय उस ज्ञान को खारिज करना सरासर अन्याय है। एन.जी.ओ. क्षेत्र इस अन्याय के खिलाफ आवाज उठाएगा या देशी—विदेशी अनुदान एजेंसियों का मात्र ठेकेदार बनकर रह जाएगा।

स्वयंसेवी संस्थाएं एवं विज्ञान और तकनीक

सुमन सहाय

यह स्वीकार करना चाहिए कि अन्य क्षेत्रों के मुकाबले विज्ञान और तकनीक के क्षेत्र में गैर सरकारी संस्थाओं की भूमिका ज्यादा सक्रिय नहीं रही है। समाज के विकास में विज्ञान और तकनीक के भारी योगदान को देखते हुए गैर सरकारी संस्थाओं को इस क्षेत्र में बढ़-चढ़ कर भूमिका निभाने की आवश्यकता है। चाहे बाँयो-टेक्नोलॉजी हो या जेनेटिक किसी भी विज्ञान या तकनीक का समाज के विकास और भलाई के लिए इस्तेमाल हो रहा या अपने निजी हित के लिए कुछेक कंपनियां इनका इस्तेमाल कर रही हैं यह देखना आवश्यक है। इस भूमिका में गैर सरकारी संस्थाएं, विश्वविद्यालय, प्रोफेसर और छात्र खड़े हो सकते हैं। यह कहा जाना चाहिए कि विज्ञान और तकनीक का विकास समाज के विकास के लिए ही होता है तो इनका इस्तेमाल भी विकास के लिए ही होना चाहिए। इन बातों पर निगरानी रखना और यह अभियान चलाना कि मुख्य रूप से इनका इस्तेमाल समाज के विकास के लिए किया जाय हम सबों की जिम्मेवारी बनती है। हमारी यह भी जिम्मेवारी बनती है कि इन चीजों के बारे में एक स्पष्ट नीति बने।

इस समय विशेष रूप से बाँयो-टेक्नोलॉजी को लेकर एक गंभीर बहस छिड़ा हुआ है। पांच बहुराष्ट्रीय कंपनियां ऐसी हैं जिनका बाँयो-टेक्नोलॉजी के ऊपर वर्चस्व है। ऐसी स्थिति में इस टेक्नोलॉजी का फायदा क्या है? नागरिक संगठन (सिविल सोसाइटी) को यह सवाल उठाना पड़ेगा। नागरिक संगठन के दायरे में केवल गैर सरकारी संस्थाएं ही नहीं आती बल्कि आम जनता, विश्वविद्यालयों के शिक्षक, बुद्धिजीवी तबका सभी आते हैं। किसी भी समाज में इस तबके का यह दायित्व बनता है कि वह देखे कि तकनीकी का इस्तेमाल गरीबों के हित में, समाज के हित में, आम आदमी के हित में हो रहा है या नहीं। वस्तुतः किसी भी तकनीक के इस्तेमाल में सरकार का पैसा लगता है और बाजार का भी उपयोग होता है। सरकार का पैसा

यानी आम जनता का पैसा और बाजार का मतलब हमारा और आपका बाजार। सवाल उठता है कि इसमें किसकी भूमिका होनी चाहिए? क्या केवल मान्सेंटों की चलेगी? क्या हम पेटेंट किये गये बीजों को स्वीकार करेंगे या हम उस टेक्नोलॉजी को तब तक स्वीकार नहीं करेंगे जब तक इसमें आम आदमी का हित काम न करे?

दूसरी बात यह है कि यह भी देखना आवश्यक है कि टेक्नोलॉजी सुरक्षित है या नहीं। बाँयो—टेक्नोलॉजी या जी.एम. क्रॉप (जेनेटिकली माडीफाइड क्रॉप) के संदर्भ में यह सवाल बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि यह टेक्नोलॉजी पूरी तरह से पांच बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हाथ में है। इस टेक्नोलॉजी का हानिकारक असर भी हो सकता है। मेरे विचार में अभी हमें इस टेक्नोलॉजी का इस्तेमाल नहीं करना चाहिए क्योंकि इसमें और शोध की जरूरत है। इसलिए इस मसले पर बहस होनी चाहिए कि यह टेक्नोलॉजी हमारे लिए अभी उपयुक्त है या नहीं। गैर सरकारी संस्थाएं इस बहस को चलाने के लिए तैयार भी हैं।

गैर सरकारी संस्थाएं विकास के संदर्भ में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं और निभा भी रहे हैं। वस्तुतः विकास के मामले में केंद्र और राज्य सरकारें उतना कर नहीं पायी हैं जितना उनसे अपेक्षा थी। इसलिए गैर सरकारी संस्थाओं की भूमिका ज्यादा महत्वपूर्ण हो गयी है। गैर सरकारी संस्थाओं के पक्ष में कुछ बातें स्वतः चली जाती हैं। मसलन, ये लोकेशन पर जल्दी पहुंच जाती हैं, इस क्षेत्र में लाल फीताशाही कम है, लोगों से सीधा संपर्क साध लेती हैं वगैरह—वगैरह। इसके अलावा गैर सरकारी संस्थाएं एक विषय या क्षेत्र को लेकर चलती हैं इसलिए उनमें एक प्रतिबद्धता विकसित हो जाती है। सरकार और उनके अधिकारियों में यह बात देखने को नहीं मिलती। सरकारी बाबुओं की सोचने समझने की क्षमता औसत होती है। विकास का दायित्व आई.ए.एस. अधिकारियों को सौंपा गया था। यह तबका बहुत अक्खड़ है। इस तबके में प्रतिबद्धता भी नहीं है। शहंशाह की तरह काम करता है। आम आदमी उसके पास फटकने का भी साहस नहीं कर पाता है। ऐसे में वह अपनी और इलाके की समस्या क्या

बताएगा। इन वजहों से सरकार विकास के काम में पूरी तरह असफल रही जबकि गैर सरकारी संस्थाएं सफल रही हैं। गैर सरकारी संस्थाओं को पिछले कुछ वर्षों में अच्छी खासी अहमियत मिली है। इसी के साथ कुछ फर्जी गैर सरकारी संस्थाओं का भी प्रादुर्भाव हुआ है। मेरे विचार में जिन संस्थाओं ने धोखाधड़ी की है उनकी जबरदस्त आलोचना की जानी चाहिए। विकास के बारे में सरकार की असफलता के बाद गैर सरकारी संस्थाओं को यह जिम्मेदारी मिली है लिहाजा हमारी जिम्मेदारी और बढ़ जाती है।

आजकल यह सवाल भी बहस के दायरे में है कि कुछ विदेशी ऋणदाता हमारे देश में अपना एजेंडा चलाना चाहते हैं और चला भी रहे हैं। सच यह है कि दोनों तरह के विदेशी ऋणदाता हैं। कुछेक अपना एजेंडा चलाना चाहते हैं और कुछेक वास्तविक अर्थों में विकास के लिए पैसा देना चाहते हैं। इन संस्थाओं के बारे में लोगों को पता है। अब यह गैर सरकारी संस्थाओं के ऊपर निर्भर करता है कि वह अपना मन टटोले और ऐसे विदेशी ऋणदाताओं से पैसा लेना बंद कर दे जो अपना एजेंडा चलाना चाहते हैं।

जीन कैम्पेन की शुरुआत नब्बे के दशक में हुई थी। तब हमलोगों ने तय किया था कि डंकल के नाम से गैट के प्रस्ताव के खिलाफ राष्ट्रीय स्तर पर अभियान चलाया जाएगा। उस समय हम लोगों ने निर्णय लिया था कि यह अभियान हमलोग अपने बल पर जाएंगे। देश या विदेश किसी से भी पैसा नहीं लेंगे। करीब 17 राज्यों में हमने यह अभियान चलाया। हमने पाया कि यदि माद्दा हो तो किसी से पैसे लिये बिना भी काम हो सकता है। पर अब पहले जैसा माहौल नहीं रहा। पिछले एक दशक के दौरान लोगों की मानसिकता में काफी बदलाव आ गया है। अब लोगों को जोड़ना मुश्किल हो रहा है। इधर यह भी देखने में आ रहा है कि गैर सरकारी संगठनों में पैसे की लालच की प्रवृत्ति बढ़ी है यह अफसोस की बात है और खतरनाक भी है। समाज ने गैर सरकारी संस्थाओं को अपना विश्वास समर्पित किया है। यदि समाज का विश्वास टूटेगा तो अराजकता की स्थिति पैदा होगी। यदि कोई संस्था अपने संसाधनों पर

निर्भर होकर अपना असर पैदा करने में सफल होती है तो इससे अच्छी बात और क्या हो सकती है। दूसरी ओर स्वच्छ संस्थाओं से पैसा लेकर अच्छा काम करने में भी कोई बुराई नहीं है। लेकिन उन संस्थाओं से कतई पैसा नहीं लेना चाहिए जो अपना एजेंडा चलाना चाहती हैं।

कुछ लोग इस बात की भी वकालत कर रहे हैं कि गैर सरकारी संस्थाओं को सरकार की जगह ले लेनी चाहिए या आने वाले कुछ वर्षों में गैर सरकारी संस्थाएं सरकार की जगह ले लेंगी। मैं इस तरह की सोच को बहुत खतरनाक मानती हूँ। सरकार की अपनी अहमियत है और इस अहमियत को न छोटा समझना चाहिए और न इसकी भूमिका को कम करके आंकना चाहिए। मुझे लगता है कि बहुत ही सुनियोजित ढंग से यह बहस को छोड़ी गयी है। सच तो यह है कि सरकार को अपनी भूमिका और जिम्मेदारी निभाने के लिए हमें बाध्य करना चाहिए। हमें यह कहना चाहिए कि सरकार को अपनी भूमिका से हटने का कोई अधिकार नहीं है। सरकार को अपना काम करना है और गैर सरकारी संस्थाओं को अपना काम करना है। यह और बात है कि जब सरकार अपने रास्ते पर नहीं चले तो उसे सही रास्ते पर लाने के लिए दबाव, अभियान, आंदोलन चलाने की जिम्मेदारी समाज की है। हम यह कभी स्वीकार नहीं करेंगे कि सरकार को हटा देना चाहिए।

गैर सरकारी संस्थाएं और राजनीति दोनों के रास्ते अलग-अलग नहीं हैं। दोनों देश और समाज का विकास और हित चाहते हैं। दोनों का लक्ष्य यही है। इसलिए दोनों के हित में संघर्ष नहीं है। आज राजनीति भाई-भतीजावाद के चलते गंदी हो गयी है। इसलिए अच्छे लोग अब ज्यादातर गैर सरकारी संस्थाओं में जा रहे हैं। गैर सरकारी संस्थाओं का भविष्य काफी उज्ज्वल है बशर्ते इसमें भ्रष्टाचार न हो। इसमें भी भ्रष्टाचार का मामला उछलता रहता है। यह चिंताजनक बात है। सभी गैर सरकारी संस्थाओं को इस पर विचार करने की आवश्यकता है फिर भी गैर सरकारी संस्थाओं ने अच्छे काम भी किये हैं लेकिन जहां-जहां

इनकी कमजोरियां देखने में आती हैं उसे दूर करने की जरूरत है। हम अपनी अंदरूनी पहल से ऐसा करें तो ज्यादा अच्छा रहेगा।

भ्रष्टाचार और लोकतंत्र

विश्व बंधु गुप्ता

विश्व हिन्दू परिषद एक स्वयंसेवी संस्था है, ऐसा दावा इसके नेताओं का है। इसका पंजीकरण एक चैरिटेबल ट्रस्ट के बतौर 1984 में हुआ। लेकिन भारतीय रिजर्व बैंक विश्व हिन्दू परिषद को सामाजिक स्वयंसेवी संगठन नहीं मानता। उसके मुताबिक विश्व हिन्दू परिषद एक खास राजनीतिक ध्येय के तहत काम करता है। भारतीय रिजर्व बैंक की इस राय से असहमति व्यक्त करने का कोई कारण दिखायी नहीं देता। विश्व हिन्दू परिषद के बारे में एक बात स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि इस संगठन का भारतीय संविधान में बिल्कुल आस्था नहीं है। यह संगठन उच्चतम न्यायालय, भारतीय रिजर्व बैंक, आयकर विभाग, पुलिस और प्रशासन तंत्र आदि सरकारी संस्थाओं के प्रति भी किसी तरह का आदर भाव नहीं रखता। इसका एक मात्र ध्येय हिन्दू राष्ट्र की स्थापना करना है और इसी ध्येय की प्राप्ति के लिए वह अग्रसर है।

विश्व हिन्दू परिषद के बारे में यह कहा जा सकता है कि महज धन कमाने और हड़प जाने के लिए ही इस संगठन ने एक चैरिटेबल ट्रस्ट के बतौर अपना पंजीकरण कराया है। विश्व हिन्दू परिषद के नेता कहते हैं कि चैरिटेबल ट्रस्ट के तहत उन्होंने अयोध्या आंदोलन के दौरान 8-9 करोड़ रुपये इकट्ठे किये हैं। लेकिन इससे ज्यादा महत्वपूर्ण बात यह है कि इसके नेता तकरीबन 15-20 करोड़ रुपये खा गये। यह धनराशि उन्हें अयोध्या में राम मंदिर निर्माण के लिए महिलाओं द्वारा दान में दिये गये आभूषणों और जेवरों से प्राप्त हुई थी। विश्व हिन्दू परिषद ने अयोध्या में मंदिर निर्माण के लिए 1987 से पैसा इकट्ठा करना शुरू किया था। भारतीय कानून में चैरिटेबल संस्थाओं के लिए एक विशेष प्रावधान है, जिसके तहत कोई धार्मिक संस्था धर्म के नाम पर यदि धन संग्रह करती है तो वह उस पैसे का इस्तेमाल धार्मिक भेद-भाव पैदा करने के लिए नहीं कर सकती है। गैर सरकारी संगठनों या स्वयंसेवी संस्थाओं के लिए हमारे देश में जो कानून बना है उसके मुताबिक कोई व्यक्ति किसी धार्मिक गुरु के

नाम से कोई संस्था या स्कूल चला रहा है तो उसकी सेवाओं का लाभ कोई दूसरा संप्रदाय या समुदाय भी उठा सकता है। इसका साफ अर्थ है कि संस्था का नाम चाहे जो हो पर उसका स्वरूप और काम करने का तरीका धर्मनिरपेक्ष होगा। विश्व हिन्दू परिषद इस कानून का उल्लंघन करता है। उसने जो भी धन संग्रह किया उसे मंदिर निर्माण के लिए रख लिया या धार्मिक उन्माद पैदा करने और दंगे करवाने के मकसद से उसका इस्तेमाल किया। तकनीकी रूप से देखा जाए तो मंदिर निर्माण के उद्देश्य से इकट्ठा की गयी धनराशि को हड़प जाने के आरोप में विश्व हिन्दू परिषद के नेताओं को जेल में होना चाहिए। मुझे विश्व हिन्दू परिषद द्वारा की गयी वित्तीय अनियमितताओं और घोटाले की जांच की जिम्मेदारी सौंपी गयी थी। यह बात 1989 की है जब केन्द्र में भारतीय जनता पार्टी के समर्थन से विश्वनाथ प्रताप सिंह की सरकार थी। विश्व हिन्दू परिषद के खिलाफ आरोप यह था कि यह संगठन चैरिटेबल संस्था का दर्जा लेकर अनाप-शनाप पैसे इकट्ठा कर रहा है। विदेशों से हवाला के जरिये पैसा आ रहा है। इसके नेता पैसे का हिसाब-किताब नहीं रखते। हमने इन आरोपों की जांच शुरू की। जांच-पड़ताल के सिलसिले में हमने संगठन के बड़े नेताओं अशोक सिंघल, विष्णु हरि डालमिया, परमहंस और दो अन्य के खिलाफ सम्मन जारी किये। लेकिन विश्व हिन्दू परिषद और भाजपा के कुछ नेता विश्वनाथ प्रताप सिंह पर जांच वापस लेने के लिए दबाव डालने लगे। अपनी सत्ता बचाने के लिए देश के धर्म निरपेक्ष नेता विश्वनाथ प्रताप सिंह ने उनके आगे घुटने टेक दिए और न्यायिक सम्मन वापस ले लिया गया। वित्त मंत्रालय में विश्व हिन्दू परिषद के घोटाले से संबंधित उस फाइल को आज दीमक चाट रहे हैं।

यह कहा जाता है कि 1977 से 1993 के दौरान विश्व हिन्दू परिषद के पास विदेशों से तकरीबन 1 अरब डॉलर आया। चूंकि हमारे पास इसका कोई प्रमाण नहीं है इसलिए इस बारे में अधिकारिक तौर पर कुछ कहा नहीं जा सकता। पर यह जरूर है कि भारतीय रिजर्व बैंक ने कभी भी विश्व हिन्दू परिषद को बैंक के माध्यम से पैसा लेने की अनुमति नहीं दी है। इसकी वजह यह है कि भारतीय रिजर्व बैंक इस संगठन को एक राजनीतिक संगठन मानता है। यह सच है कि विदेशों में रहने वाले अप्रवासी भारतीय इस संगठन को हवाला के जरिये

पैसे भेजते हैं पर उसका कोई सबूत उपलब्ध नहीं है। यह भी सच है कि विश्व हिन्दू परिषद कुछ अन्य संगठनों को खड़ा करके 'फॉरेन कंट्रीब्यूशन रेग्यूलेशन एक्ट' (एफ.सी.आर.ए.) के तहत विदेशों से मदद ले रहा है। इसके सबूत हमारे पास मौजूद हैं। एक बात देखने में आयी है कि जब-जब धार्मिक उन्माद बढ़ा तब-तब पैसा इकट्ठा करने की गति तेज हुई। विश्व हिन्दू परिषद द्वारा आयोजित 'शिला समारोह' और 'दुल्हा समारोह' के दौरान परिषद को खूब पैसे मिले। ये दोनों समारोह राम जन्मभूमि आंदोलन के हिस्से थे।

एक चैरिटेबल संस्था की आड़ लेकर विश्व हिन्दू परिषद ने जिस तरह रुपये-पैसे का घोटाला किया उससे एक अहम सवाल पैदा हुआ है कि क्या भारत में चैरिटेबल संस्था या गैर सरकारी संगठनों की जरूरत है। वस्तुतः भारत में महज दस फीसदी चैरिटेबल या गैर सरकारी संस्थाएं ही लोक कल्याणकारी कार्यों में लगी हैं। विश्व हिन्दू परिषद सहित शेष नब्बे फीसदी स्वयंसेवी संस्थाएं सरकार और लोगों के साथ धोखाधड़ी करती हैं। एस्कॉर्ट हास्पिटल और हमदर्द दवाखाना को मैं इसी श्रेणी में रखता हूँ। जिस फ्रेमवर्क के तहत चैरिटेबल संस्थाएं काम करती हैं उनको गंभीरता से समझने और अध्ययन करने की जरूरत है।

भारत में चैरिटेबल संस्थाएं या गैर सरकारी संस्थाओं ने वित्तीय मामलों में जिस तरह का आचरण पेश किया उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि नब्बे प्रतिशत गैर सरकारी संगठन लोगों के साथ धोखाधड़ी करती हैं। गैर सरकारी संगठनों को विदेशों से वित्तीय मदद लेने के लिए 'फारेन कंट्रीब्यूशन एक्ट' के तहत आयकर विभाग से '80 जी' का प्रमाण पत्र मिलता है यानी उन्हें आयकर के ढेर सारे बंधनों से मुक्ति मिल जाती है। दिल्ली का जीमखाना क्लब और नेशनल स्पोर्ट्स क्लब भी 80जी का लाभ उठाते हैं। एक तरह से ये दोनों भी गैर सरकारी संस्था यानी एन.जी.ओ. हैं। अब सभी जानते हैं कि इन दोनों जगहों पर दिन-रात जुआ और शराब का दौर चलता रहता है। मेरे विचार में गैर सरकारी संस्थाओं को यदि बंद कर दिया जाय तो भी देश में जितनी जन सेवा होती है उतनी होती रहेगी। मैं

व्यक्तिगत तौर पर ऐसी सुविधा का पक्षधर नहीं हूँ जिसका नब्बे फीसदी लोग दुरुपयोग करते हैं।

इसी तरह आयकर अधिनियम के अंतर्गत राजनीतिक पार्टियां भी स्वयंसेवी संस्था के दायरे में आती हैं। राजनीतिक पार्टियां आयकर अधिनियम के सेक्शन 39ए के अंतर्गत आती हैं। राजनीतिक दलों को जब कोई व्यक्ति या संस्था चंदा देते हैं तो उन्हें आयकर की छूट नहीं मिलती है पर चंदा प्राप्त करने वाली राजनीतिक पार्टी को कर से छूट होती है। आज तक किसी पार्टी ने अपने आय और व्यय का ब्यौरा पेश नहीं किया। राजनीतिक पार्टियां लोकसभा, राज्यसभा की टिकटें बेचकर, पदाधिकारियों की नियुक्ति करके करोड़ों रुपये की उगाही करती हैं पर इन पैसों को किन मदों में खर्च किया जाता है कोई नहीं जानता। कानून में यह प्रावधान जरूर है कि राजनीतिक दल आय-व्यय का ऑडिट कराये लेकिन कोई भी दल इसका पालन नहीं करता। वैसे तो राजनीतिक दलों के लिए विदेशों से वित्तीय मदद लेना पूरी तरह प्रतिबंधित है लेकिन हवाला के जरिये सभी राजनीतिक दल विदेशों से पैसा लेते हैं। कांग्रेस के वरिष्ठ नेता सीताराम केसरी (अब स्वर्गीय) का एक मामला प्रकाश में आया था। उन्होंने दान स्वरूप चेक से पैसा लिया था। उनके खिलाफ मुकदमा भी चला।

इस पूरे प्रसंग का सबसे दुखद पहलू यह है कि राजनीतिक दलों ने जो पैसे इकट्ठे किये हैं उसे विदेशी बैंकों में जमा कर रखा है। धन इकट्ठे करने और हड़प लेने के संदर्भ में जब राजनीतिक दलों की बात उठती है तो भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी और मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के बारे में एक बात उल्लेख करना चाहूंगा। ये दोनों पार्टियां अन्य पार्टियों की तुलना में अपेक्षाकृत ज्यादा ईमानदार हैं। कांग्रेस, भाजपा, समाजवादी पार्टी, बहुजन समाज पार्टी जैसे राजनीतिक दल संगठन के नाम पर पारिवारिक व्यवसाय चलाते हैं। ये पार्टियां लोकसभा और राज्यसभा की टिकटें बेचकर जो पैसा कमाती हैं उसका 90 फीसदी बड़े नेता अपनी जेब में रख लेते हैं और शेष 10 फीसदी ही पार्टी कोष में जमा करते हैं।

अमेरिका, इंग्लैण्ड, जर्मनी, इजरायल जैसे देश भारत के राजनीतिक दलों को वित्तीय मदद करते हैं। इसके माध्यम से वे अपने हितों का पोषण करते हैं। सी.पी.आई. और सी.पी.एम. को सोवियत संघ से काफी पैसा मिलता था। इन पैसों का कोई हिसाब—किताब नहीं होता। भारत सरकार भी विदेशों की राजनीतिक पार्टियों को सरकारी बजट से वित्तीय मदद देती है। हर सरकार का एक गोपनीय कोष है इसका ऑडिट नहीं होता। राजनीतिक पार्टियां विदेशों से प्राप्त धन का इस्तेमाल चुनावों के दौरान किया करती हैं। इस मामले में विश्व हिन्दू परिषद ने तो सभी रिकार्ड ध्वस्त कर दिया। उसमें राम मंदिर निर्माण के उद्देश्य से इकट्ठा किये गये पैसों का इस्तेमाल भारतीय जनता पार्टी के चुनाव प्रचार में किया। यह बात 1991 के चुनाव की है। इस चुनाव में भाजपा ने पहली बार कांग्रेस से भी ज्यादा धन खर्च किया था। यदि कोई इस मामले को लेकर न्यायालय में गया होता तो 1991 का चुनाव अवैध हो गया होता।

राजनीतिक दल अपने आय—व्यय का हिसाब—किताब रखे उच्चतम न्यायालय के कुलदीप सिंह ने यह निर्णय दिया था। उच्चतम न्यायालय ने चुनाव आयोग को निर्देश दिया था कि यदि कोई राजनीतिक दल आय—व्यय का हिसाब—किताब नहीं रखता तो उसको प्रतिबंधित कर दिया जाय। लेकिन इस देश में कानून लागू करवाने के लिए कोई तैयार नहीं। चुनाव आयोग चुप हो गया क्योंकि राजनीतिक दलों का उस पर दबाव था।

मैं गैर—सरकारी संगठनों और विदेशों से प्राप्त वित्तीय मदद दोनों के खिलाफ हूँ। सच पूछिए तो स्वयंसेवी संस्था एक आंदोलन है। फॉरेन कंट्रीब्यूशन रेग्यूलेशन एक्ट और आयकर के प्रावधानों के बिना भी आंदोलन हुआ है और आगे भी होते रहेंगे। गांधी जी ने देश में खादी का बड़ा आंदोलन चलाया था। वह सफल भी हुआ। उनके इस आंदोलन को अंग्रेज सरकार का संरक्षण प्राप्त नहीं था। कार्ल मार्क्स, नानक, मदर टैरेसा आदि ने जब समाज सुधार का काम शुरू किया था तब उनके पास पैसा नहीं था। देशी—विदेशी पैसों की मदद से आंदोलन और समाज सुधार का कार्य नहीं हुआ करते। इसलिए मैं सभी स्वयंसेवी संस्थाओं पर तब तक

के लिए प्रतिबंध लगाने का पक्षधर हूं जब तक इनके कार्य पद्धति पर अंकुश रखने वाला कोई तरीका (सेफ गार्ड) खोज नहीं लिया जाय।

आयकर आयुक्त की हैसियत से बीस साल के अपने अनुभव के आधार पर मैं कह सकता हूं कि हमारे देश में धन और बाहुबल की सत्ता स्थापित है और पैसे वाले इस देश का शासन चला रहे हैं। अपने देश में नशीले पदार्थों की तस्करी से बेशुमार धन आता है दुनिया में इस समय तकरीबन 400 अरब डॉलर का नशीले पदार्थों का कारोबार होता है। भारत अफीम की तस्करी का सबसे बड़ा केंद्र है देश के तीन राज्यों – उत्तर प्रदेश, राजस्थान और मध्य प्रदेश में अफीम की खेती होती है। हमारे यहां तकरीबन 20 अरब डालर नशीले पदार्थों की तस्करी से आते हैं। इसका मतलब अपने देश में नशीले पदार्थों की तस्करी का करीब एक लाख करोड़ रुपये का कारोबार है। दुनिया में नशीले पदार्थों के कुल कारोबार में भारत का हिस्सा 5 प्रतिशत है। हीरे की तस्करी, वैश्यावृत्ति, भ्रष्टाचार, हवाला, रिश्वतखोरी, नशीले पदार्थों की तस्करी आदि अवैध धंधों से देश में करीब 4 लाख करोड़ रुपये की हेराफेरी होती है। इन अवैध धंधों में लगे माफिया को राजनीतिक और नौकरशाहों का संरक्षण प्राप्त है। मान लीजिए कि राजनीतिक कर्म में अपने यहां यदि 50,000 लोग लगे हैं तो प्रत्येक के हिस्से में करीब 8 करोड़ रूपया आता है। अब जिस व्यक्ति का राजनीतिक कद जितना बड़ा होगा इस पैसे में उसका हिस्सा भी उतना ही ज्यादा होगा।

मेरा मानना है कि भारत में 90 प्रतिशत गैर सरकारी संगठन माफिया हैं। आज देश में भ्रष्टाचार का बोलबाला इतना ज्यादा है कि कोई भी गैर सरकारी संगठन चार-पांच हजार का रिश्वत देकर विभाग से 80 जी का प्रमाण पत्र बनवा सकता है। यही नहीं आजकल प्राकृतिक आपदाओं के नाम पर भी सभी कंपनियां राहत कोष बनाने लगी हैं सारे अखबार वाले आपदा राहत कोष के नाम पर जनता से उगाही कर रहे हैं। लातूर भूकंप के समय एक अखबारी घराने ने अपने राहत कोष में काफी घपला किया। इस तरह के कोषों पर भी प्रतिबंध लगाना

चाहिए। आखिर क्यों नहीं सभी राहत कोष के पैसे प्रधानमंत्री कोष में रखे जाते? इससे आयकर अधिकारियों पर भी पड़ने वाला अनावश्यक बोझ कम होगा। कुल मिलाकर ऐसे गैर सरकारी संगठनों की संख्या बहुत है जो समाज सेवा के लिए दाता ऐजेंसियों से पैसा लेकर भाग खड़े होते हैं। हर साल ऐसे अनेक गैर-सरकारी संगठनों का नाम काली सूची में डाला जाता है। इसलिए मैं गैर-सरकारी संगठनों का विरोध करता हूँ। इन पर प्रतिबंध लगाने के साथ-साथ समाज सेवा के नाम पर आने वाले बाहरी पैसों पर भी तुरंत रोक लगनी चाहिए। इसी में देश, समाज और लोक का कल्याण है।